का प्रसाद प्राप्त होगा, जिसके कारण मुझे मुक्ति मिलेगी। इसमें तथ्य क्या है? इसको विवेकी लोग वस्तुस्वरूपके अध्ययनसे स्वयं विदित कर लेंगे, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इसमें भी मुक्ति और इसीके अर्थ ईश्वरकी प्रसन्नताकी अभिलाषा जरूर है। खैर, 'जिस ज्ञानीने अपना व परका यथार्थ निरुपाधि सहजस्वरूप जान लिया है अतएव ज्ञाता रहता है, उस ज्ञानीके प्रवृत्तिके पूर्वसंस्कारवश कभी तक कभी कोई चेष्टा भी होती है, किन्तु ज्ञानमय भावके साथ कर्म होनेसे वह कर्म अन्य पुरुषोंको बाधकर नहीं होता प्रत्युत साधक होता है। इस प्रकार ज्ञानीके निष्काम कर्मयोग हो जाता है और यह ज्ञानी निष्काम कमयोगसे पूर्वकृत-फलोपभोगसे निवृत्त होता हुआ ज्ञानयोगका प्रखर उद्यम कर लेता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर भी रागभाव अवशिष्ट रहता तब तक उसके परिणाम स्वरूप कर्म-योग चलता है। इस तरह अन्तःप्रज्ञके अथवा अन्तरात्माके निष्काम कर्मयोग होता है। इसमें निष्कामता अंश तत्त्वज्ञानका परिणाम है और कर्मयोग रागादिभावका परिणाम है। निष्काम कर्मयोग तो ज्ञानियोंके होता है, परन्तु वह कर्तव्य है या होना पड़ता है, इस हलमें दो धारायें हो जाती हैं—(१) कर्तव्य माननेपर तो प्रवृत्ति करना चाहिये, करते रहना चाहिये, इस उपयोगके कारण स्वभावदृष्टिका अवसर नहीं मिलता। (२) तत्त्वज्ञके निष्काम कर्मयोग होना पड़ता है, ऐसा माननेपर कर्मयोग करते हुए कर्मयोगमें भी उपेक्षा रहती है, जिससे निष्काम कर्मयोगमें ऐहिक सुखकी कामनाका अभाव तो था ही, अब कर्मयोगकी कामनाका भी अभाव हो जाता है और परमनिष्कामता प्रकट होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कर्मयोगवृत्ति भी छूटकर परमज्ञानयोग हो जाता है, जिससे निर्वाण होता है। उक्त दोनों मान्यताओंका नाना जीवकी अपेक्षा समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि तत्त्वज्ञ आत्मा को तो कर्मयोग करना पड़ता है, उसकी निष्कामता है, ऐसी विशुद्धिमें उसमें निष्काम कर्मयोग होता है, उसे देखकर अल्पज्ञ जन महापुरुषोंकी-प्रवृत्तिको कर्तव्य समझे तो फिर इस तत्त्वका प्रसार यहाँ हो सकता है कि निष्काम कर्मयोग करना कर्तव्य है। निष्काम कर्मयोग बहुत उत्तम व्यवहार है। इससे साधकके अन्तरङ्गमें व्याकुलता नहीं है, प्रत्युत उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणतिके सन्मुख होता जाता है। साथ ही निष्कामकर्मयोगीके निवास प्रदेशमें सेवा, सदा-चार, शान्तिका वातावरण हो जाता है जिससे नगरमें भी सुख समृद्धि होती है।

ज्ञानयोगसे मोक्ष होता है। ज्ञानयोगकी अपूर्णताके सयय तक जो क्रियायें चलती हैं, उन कर्मोंमें उसके निष्कामता है। अतः ज्ञानीका निष्काम कर्मयोग संसार बन्धन नहीं कराता—यह तात्पर्य है। यदि ज्ञानयोगकी कुछ भी बात पुरुषमें न हो तो उससे निष्काम-कर्मयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञानदृष्टिके अभावमें निष्काम कर्मयोग बन सके तो उस निष्कामताका अर्थ कुछ नहीं लग सकता। एक जिज्ञासु प्रोफेसरने देहरादूनमें मुझसे पूछा

का प्रसाद प्राप्त होगा, जिसके कारण मुझे मुक्ति मिलेगी। इसमें तथ्य क्या है? इसको विवेकी लोग वस्तुस्वरूपके अध्ययनसे स्वयं विदित कर लेंगे, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इसमें भी मुक्ति और इसीके अर्थ ईश्वरकी प्रसन्नताकी अभिलाषा जरूर है। खैर, 'जिस ज्ञानीने अपना व परका यथार्थ निरुपाधि सहजस्वरूप जान लिया है अतएव ज्ञाता रहता है, उस ज्ञानीके प्रवृत्तिके पूर्वसंस्कारवश कभी तक कभी कोई चेष्टा भी होती है, किन्तु ज्ञानमय भावके साथ कर्म होनेसे वह कर्म अन्य पुरुषोंको बाधकर नहीं होता प्रत्युत साधक होता है। इस प्रकार ज्ञानीके निष्काम कर्मयोग हो जाता है और यह ज्ञानी निष्काम कमयोगसे पूर्वकृत-फलोपभोगसे निवृत्त होता हुआ ज्ञानयोगका प्रखर उद्यम कर लेता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर भी रागभाव अवशिष्ट रहता तब तक उसके परिणाम स्वरूप कर्मयोग चलता है। इस तरह अन्त:प्रज्ञके अथवा अन्तरात्माके निष्काम कर्मयोग होता है। इसमें निष्कामता अंश तत्त्वज्ञानका परिणाम है और कर्मयोग रागादिभावका परिणाम है। निष्काम कर्मयोग तो ज्ञानियोंके होता है, परन्तु वह कर्तव्य है या होना पड़ता है, इस हलमें दो धारायें हो जाती हैं—(१) कर्तव्य माननेपर तो प्रवृत्ति करना चाहिये, करते रहना चाहिये, इस उपयोगके कारण स्वभावदृष्टिका अवसर नहीं मिलता। (२) तत्त्वज्ञके निष्काम कर्मयोग होना पड़ता है, ऐसा माननेपर कर्मयोग करते हुए कर्मयोगमें भी उपेक्षा रहती है, जिससे निष्काम कर्मयोगमें ऐहिक सुखकी कामनाका अभाव तो था ही, अब कर्मयोगकी कामनाका भी अभाव हो जाता है और परमनिष्कामता प्रकट होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कर्मयोगवृत्ति भी छूटकर परमज्ञानयोग हो जाता है, जिससे निर्वाण होता है। उक्त दोनों मान्यताओंका नाना जीवकी अपेक्षा समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि तत्त्वज्ञ आत्मा को तो कर्मयोग करना पड़ता है, उसकी निष्कामता है, ऐसी विशुद्धिमें उसमें निष्काम कर्मयोग होता है, उसे देखकर अल्पज्ञ जन महापुरुषोंकी-प्रवृत्तिको कर्तव्य समझे तो फिर इस तत्त्वका प्रसार यहाँ हो सकता है कि निष्काम कर्मयोग करना कर्तव्य है। निष्काम कर्मयोग बहुत उत्तम व्यवहार है। इससे साधकके अन्तरङ्गमें व्याकुलता नहीं है, प्रत्युत उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणतिके सन्मुख होता जाता है। साथ ही निष्कामकर्मयोगीके निवास प्रदेशमें सेवा, सदाचार, शान्तिका वातावरण हो जाता है जिससे नगरमें भी सुख समृद्धि होती है।

ज्ञानयोगसे मोक्ष होता है। ज्ञानयोगकी अपूर्णताके सयय तक जो क्रियायें चलती हैं, उन कर्मोंमें उसके निष्कामता है। अतः ज्ञानीका निष्काम कर्मयोग संसार बन्धन नहीं कराता—यह तात्पर्य है। यदि ज्ञानयोगकी कुछ भी बात पुरुषमें न हो तो उससे निष्काम-कर्मयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञानदृष्टिके अभावमें निष्काम कर्मयोग बन सके तो उस निष्कामताका अर्थ कुछ नहीं लग सकता। एक जिज्ञासु प्रोफेसरने देहरादूनमें मुझसे पूछा

था, तव जैमिनि ऋषि न पूर्वपरम्पराके अनुसार अर्थ प्रचचन किया, भाष्यादि वनाये, जिनमें क्रिया, यज्ञों आदिका खूब निर्देशन किया। इसी कालसे वेदकी दो प्रकारकी मीमांसा कहलानें लगी– (१) पूर्वमीमांसा, (२) उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसामें मीमांसक सिद्धान्त आ जाता है। ये वेदको ईश्वरकृत मानते हुए भी ईश्वरको सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते, किन्तु धर्मज्ञ स्वीकार करते हैं। इसका कारण तो यह प्रतीत होता है कि सर्वज्ञता मानने पर उस ज्ञान-तत्त्वकी महिमा वेदसे अधिक हो जाती है, किन्तु इष्ट यह था कि यह प्रतीति लोगोंकी रहे कि वेदकी ही सर्वोपरि प्रामाणिकता है।

वेदकी पूर्व मीमांसा मीमांसकदर्शनमें आती है। इसमें यज्ञोंका विशेष विधान है। इसमें भी दो मतमीमांसकोंके चल रहे हैं। एक मतसे तो पशुयाग उनके विधि रूपमें है, किन्तु दूसरे मत से हिंसाका विलकुल निषेध है, केवल समिधोंसे (काष्ठ आदि अचित्त सामग्रीसे) होमका विधान है। यज्ञ करानेका प्रयोजन मुख्य यह भी दरशाया है कि यज्ञकी ज्वालाकी उष्णता व धूम आदिके अणु सूर्यरश्मियोंको तीक्ष्ण करते हैं जिनके कारण सागरादिका जल खिंचता हैं, वादल वनता है, फिर वृष्टि होती है, जिससे धान्यकी वृद्धि होती है, जिसके उपभोगसे प्रजा सुखी रहती है। इस यज्ञमें परमात्मा व देवताकी स्तुतियाँ, जाप भी चलते हैं, क्योंकि विना धार्मिक रूपके स्थिरता व प्रवाह नहीं वनता। इन यज्ञोंके साथ जो गोयाग, अश्वयाग वगैरह वताया उसका अर्थ सिर्फ दान है। यज्ञके समय प्रजाजनों या योग्य पुरुषोंको आवश्यक वस्तु प्रदान करना भी धर्मका अङ्ग माना है, उसमें हिंसाका अर्थ जरा भी नहीं लगाना। विवेक-शील मानव यह कभी नहीं सोच सकता कि किसी भी प्रकारकी हिंसामें धर्म हो सकता है। वध तो अधर्म ही है, फिर कोई भी ऋषि हों वे कैसे हिंसाका विधान कर सकते हैं? यदि किसी समय हिंसाको धर्मका अङ्ग किसीने वताया हो तो यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि माँसभक्षणकी विषयवासनाने यह रूपक वना दिया होगा।

स्वर्गकामनाकी वात विशेषतया यहाँ आती हैं, इस सम्वन्धमें भी दो अभिप्राय हैं— मीमांसकोंके एक मतसे स्वर्ग कोई स्थान विशेष है, जिसमें जीव मरण करके जन्म लेते हैं और इष्ट सुख भोगते हैं। दूसरे मतसे स्वर्ग कोई चीज नहीं, प्रीतिका नाम ही स्वर्ग है। वड़े प्रेम व आराम वाले जीवनको स्वर्ग कहते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत्' ऐसा अन्तमें कहकर अनेक यज्ञोंका विधान वताया है। इन सव वातोंका लोग अध्यात्मपद्धतिसे अर्थ करते हैं तो अर्थ-कारोंको भी प्रसन्नता होती है, पाठकोंको भी प्रसन्नता होती है तथा अध्यात्मपरक साहित्य से ग्रन्थकर्ताका महत्त्व स्थापित होता है। तव यह वात सुपरिचित हो जाती है कि अध्यात्म-भाव ही महान् है, धर्म है, शरण है।

———

था, तव जैमिनि ऋषि न पूर्वपरम्पराके अनुसार अर्थ प्रचचन किया, भाष्यादि वनाये, जिनमें क्रिया, यज्ञों आदिका खूव निर्देशन किया। इसी कालसे वेदकी दो प्रकारकी मीमांसा कहलानें लगी– (१) पूर्वमीमांसा, (२) उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसामें मीमांसक सिद्धान्त आ जाता है। ये वेदको ईश्वरकृत मानते हुए भी ईश्वरको सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते, किन्तु धर्मज्ञ स्वीकार करते हैं। इसका कारण तो यह प्रतीत होता है कि सर्वज्ञता मानने पर उस ज्ञान-तत्त्वकी महिमा वेदसे अधिक हो जाती है, किन्तु इष्ट यह था कि यह प्रतीति लोगोंकी रहे कि वेदकी ही सर्वोपरि प्रामाणिकता है।

वेदकी पूर्व मीमांसा मीमांसकदर्शनमें आती है। इसमें यज्ञोंका विशेष विधान है। इसमें भी दो मतमीमांसकोंके चल रहे हैं। एक मतसे तो पशुयाग उनके विधि रूपमें है, किन्तु दूसरे मत से हिंसाका विलकुल निषेध है, केवल समिधोंसे (काष्ठ आदि अचित्त सामग्रीसे) होमका विधान है। यज्ञ करानेका प्रयोजन मुख्य यह भी दरशाया है कि यज्ञकी ज्वालाकी उष्णता व धूम आदिके अणु सूर्यरश्मियोंको तीक्ष्ण करते हैं जिनके कारण सागरादिका जल खिंचता हैं, वादल वनता है, फिर वृष्टि होती है, जिससे धान्यकी वृद्धि होती है, जिसके उपभोगसे प्रजा सुखी रहती है। इस यज्ञमें परमात्मा व देवताकी स्तुतियाँ, जाप भी चलते हैं, क्योंकि विना धार्मिक रूपके स्थिरता व प्रवाह नहीं वनता। इन यज्ञोंके साथ जो गोयाग, अश्वयाग वगैरह वताया उसका अर्थ सिर्फ दान है। यज्ञके समय प्रजाजनों या योग्य पुरुषोंको आवश्यक वस्तु प्रदान करना भी धर्मका अङ्ग माना है, उसमें हिंसाका अर्थ जरा भी नहीं लगाना। विवेक-शील मानव यह कभी नहीं सोच सकता कि किसी भी प्रकारकी हिंसामें धर्म हो सकता है। वध तो अधर्म ही है, फिर कोई भी ऋषि हों वे कैसे हिंसाका विधान कर सकते हैं? यदि किसी समय हिंसाको धर्मका अङ्ग किसीने वताया हो तो यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि माँसभक्षणकी विषयवासनाने यह रूपक वना दिया होगा।

स्वर्गकामनाकी वात विशेषतया यहाँ आती है, इस सम्वन्धमें भी दो अभिप्राय हैं— मीमांसकोंके एक मतसे स्वर्ग कोई स्थान विशेष है, जिसमें जीव मरण करके जन्म लेते हैं और इष्ट सुख भोगते हैं। दूसरे मतसे स्वर्ग कोई चीज नहीं, प्रीतिका नाम ही स्वर्ग है। वड़े प्रेम व आराम वाले जीवनको स्वर्ग कहते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत्' ऐसा अन्तमें कहकर अनेक यज्ञोंका विधान वताया है। इन सव वातोंका लोग अध्यात्मपद्धतिसे अर्थ करते हैं तो अर्थ-कारोंको भी प्रसन्नता होती है, पाठकोंको भी प्रसन्नता होती है तथा अध्यात्मपरक साहित्य से ग्रन्थकर्ताका महत्त्व स्थापित होता है। तव यह वात सुपरिचित हो जाती है कि अध्यात्म-भाव ही महान् है, धर्म है, शरण है।

होता है ? लोकमें समस्त पदार्थ अनन्तानन्त है, उनमें प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूपास्तित्व लिये हुए हैं, जिससे कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका न स्वामी है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न अधिकारी है और न किसी प्रकारका सम्बन्धी है। प्रत्येक अपने आपमें अद्वैत हैं। जहां ऐसा स्वतन्त्र अद्वैत स्वरूपास्तित्व देखा कि मोह, राग, द्वेषको ठहरनेका अवसर ही नहीं मिलता। अब यदि समस्त स्वरूपास्तित्वोंको केवल अस्तित्वस्वरूपकी दृष्टिसे देखें तो इसमें तो वे स्वतन्त्र स्वतन्त्र भेद भी लुप्त हो जाते हैं, चेतन अचेतन भेद तो वहां ठहर ही नहीं सकते। इस तरह इस महासत्ताकी दृष्टिमें सामान्य, अद्वैत, निर्विकल्प, अभेद प्रतिभास होता है, जिससे मोह, राग, द्वेषको ठहरनेका साहस भी नहीं हो सकता है। वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करने पर ज्ञावकी सभी कलाओंसे लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है। किसी भी पदार्थमें किसी भी अन्य पदार्थका स्वरूप नहीं मिल सकता। सब स्वस्वद्रव्य क्षेत्रकालभावात्मक ही हैं। अब उन सब अद्वैतस्वरूप पदार्थोंको सादृश्य धर्मद्वारसे देखो तो वे सब उस दृष्टिमें परस्पर गर्भित हो जाते हैं और ऐसे गर्भित हो जाते हैं कि मानो निगीत हो चुके। अब यहाँ प्रत्येक भिन्न-भिन्न सत् नहीं रहा। यदि सब चेतनोंको सादृश्यधर्म (चैतन्यस्वभाव द्वारसे देखो तो वह सब एक ब्रह्म है। यदि चेतन अचेतन सब पदार्थोंको सादृश्यधर्म (अस्तित्वस्वभाव) द्वारसे देखो तो सारा विश्व एक सत् है, इसे ब्रह्म, ईश्वर, सत् आदि किसी शब्दसे कहो। इस तरह अद्वैतकी कक्षायें अनेक हैं। जिस दृष्टिसे देखो उसी दृष्टिसे अद्वैत प्रतिभास होता है। अद्वैतवादका सर्वत्र उद्देश्य विकल्पोंका विलय कर लेना है।

वैशेषिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

जो विशेष अर्थात् भेद भेद करके पदार्शका स्वरूप माने, उसे वैशेषिक कहते हैं। वैशेपिकोंके कहे हुए सिद्धान्तको वैशेषिक दर्शन कहते है। इनका मुख्य सिद्धान्त है कि पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे निश्रेयस अर्थात् कल्याण (मोक्ष) होता है।

पदार्थ ६ प्रकारके कहे हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय। दो पदार्थ और भी कहे हैं जिनके नाम हैं–सत्ता व अभाव। जो गुणवान् व क्रिया (कर्म) वान् हो तथा समवायि (उपादान) कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्याश्रय हों, निर्गुण (गुणरहित) हों, संयोग व विभागोंमें कारण न हों एवं अनपेक्ष हों (कोई गुण किसी दूसरे गुणकी अपेक्षा न करनेवाला हो) उन्हें गुण कहते हैं। जो एक ही द्रव्यके आश्रय रहे, गुणरहित हो, संयोग व विभागोंमें अपेक्षारहित (उदासीन) कारण हो उसे कर्म कहते हैं। जो समान वृत्तिके ज्ञानका कारण हो उसे सामान्य कहते

होता है ? लोकमें समस्त पदार्थ अनन्तानन्त है, उनमें प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूपास्तित्व लिये हुए हैं, जिससे कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका न स्वामी है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न अधिकारी है और न किसी प्रकारका सम्बन्धी है। प्रत्येक अपने आपमें अद्वैत हैं। जहां ऐसा स्वतन्त्र अद्वैत स्वरूपास्तित्व देखा कि मोह, राग, द्वेषको ठहरनेका अवसर ही नहीं मिलता। अब यदि समस्त स्वरूपास्तित्वोंको केवल अस्तित्वस्वरूपकी दृष्टिसे देखें तो इसमें तो वे स्वतन्त्र स्वतन्त्र भेद भी लुप्त हो जाते हैं, चेतन अचेतन भेद तो वहां ठहर ही नहीं सकते। इस तरह इस महासत्ताकी दृष्टिमें सामान्य, अद्वैत, निर्विकल्प, अभेद प्रतिभास होता है, जिससे मोह, राग, द्वेषको ठहरनेका साहस भी नहीं हो सकता है। वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करने पर ज्ञावकी सभी कलाओंसे लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है। किसी भी पदार्थमें किसी भी अन्य पदार्थका स्वरूप नहीं मिल सकता। सब स्वस्वद्रव्य क्षेत्रकालभावात्मक ही हैं। अब उन सब अद्वैतस्वरूप पदार्थों को साहश्य धर्मद्वारसे देखो तो वे सब उस दृष्टिमें परस्पर गर्भित हो जाते हैं और ऐसे गर्भित हो जाते हैं कि मानो निगीत हो चुके। अब यहां प्रत्येक भिन्न-भिन्न सत् नहीं रहा। यदि सब चेतनोंको साहश्यधर्म (चैतन्यस्वभाव द्वारसे देखो तो वह सब एक ब्रह्म है। यदि चेतन अचेतन सब पदार्थोंको साहश्यधर्म (अस्तित्वस्वभाव) द्वारसे देखो तो सारा विश्व एक सत् है, इसे ब्रह्म, ईश्वर, सत् आदि किसी शब्दसे कहो। इस तरह अद्वैतकी कक्षायें अनेक हैं। जिस दृष्टिसे देखो उसी दृष्टिसे अद्वैत प्रतिभास होता है। अद्वैतवादका सर्वत्र उद्देश्य विकल्पोंका विलय कर लेना है।

वैशेषिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

जो विशेष अर्थात् भेद भेद करके पदार्शका स्वरूप माने, उसे वैशेषिक कहते हैं। वैशेपिकोंके कहे हुए सिद्धान्तको वैशेपिक दर्शन कहते है। इनका मुख्य सिद्धान्त है कि पदार्थों के तत्वज्ञानसे निश्रेयस अर्थात् कल्याण (मोक्ष) होता है।

पदार्थ ६ प्रकारके कहे हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय। दो पदार्थ और भी कहे हैं जिनके नाम हैं—सत्ता व अभाव। जो गुणवान् व क्रिया (कर्म) वान् हो तथा समवायि (उपादान) कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्याश्रय हों, निर्गुण (गुणरहित) हों, संयोग व विभागोंमें कारण न हों एवं अनपेक्ष हों (कोई गुण किसी दूसरे गुणकी अपेक्षा न करनेवाला हो) उन्हें गुण कहते हैं। जो एक ही द्रव्यके आश्रय रहे, गुणरहित हो, संयोग व विभागोंमें अपेक्षारहित (उदासीन) कारण हो उसे कर्म कहते हैं। जो समान वृत्तिके ज्ञानका कारण हो उसे सामान्य कहते

जलद्रव्य भी दो प्रकारका है– कारणरूप तो नित्य है, व कार्यरूप अनित्य है। ३–तेजोद्रव्य में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व व संस्कार नामक गुण होते हैं। यह भी दो प्रकारका है—कारणरूप तो नित्य है व कार्यरूप अनित्य है। ४–वायुमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, संस्कार नामक गुण होते हैं। यह भी दो प्रकारका है—कारणरूप वायु तो नित्य है व कार्यरूप वायु अनित्य है। ५- आकाशमें शब्द, संख्या, परिमाण, (महत्परिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग, एकत्व व नित्यत्व गुण होते हैं। ६--कालमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, एकत्व गुण होते हैं। ७- दिशामें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग गुण होते हैं। ८–आत्मामें बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, (महत्परिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग नामक गुण होते हैं। आत्मा अवस्था भेदसे नाना हैं। ९–मन द्रव्यमें संख्या, परिमाण (अणुपरिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व व संस्कार गुण होते हैं। मन मूर्त है, किन्तु द्रव्यका आरम्भक नहीं।

उक्त पदार्थोंमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य व विशेष, ये ५ निर्गुण व प्रकारके पदार्थ समवायी अनेक हैं, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—ये ५ निष्क्रिय हैं। इन सब पदार्थोंमें से द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीन प्रकारके पदार्थोंमें तो सत्ताका सम्बन्ध है, किन्तु सामान्य, विशेष व समवाय इनमें सत्ताका सम्बन्ध नहीं है, केवल बुद्धिगम्य है।

वैज्ञानिक पद्धतिसे देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि वास्तविक सत् तो द्रव्य ही है। सामान्य विशेष, समवाय तो बुद्धिगम्य ही हैं; द्रव्यमें इन्हें निरखा जाता है और गुण कर्म भी निर्गुण व निष्क्रिय होनेके कारण द्रव्यकी ही शक्तियां व परिणतियां हैं, द्रव्यसे पृथक् पदार्थ नहीं। स्वरूपकी दृष्टिसे ही गुण, कर्म आदि पृथक् प्रतीत होते हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे द्रव्यको देखनेपर द्रव्यमें गुण, कर्म, सामान्य, विशेष प्रतीत होते हैं, समवाय तो तादात्म्यका नाम है। नव प्रकारके पदार्थोंमें द्रव्योंमें भी जातिकी अपेक्षा ४ प्रकारके पदार्थ (द्रव्य) ज्ञात होते हैं—एक तो भौतिक, जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु अन्तर्गत हैं क्योंकि पृथ्वी अग्नि बन जाती है, वायु जल बन जाता है इत्यादि परस्पर परिवर्तन देखे जाते हैं। इसी कारण इन चारोंमें रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों गुण रहते हैं। पर्यायभेदसे किसीमें कोई गुण व्यक्त है, कोई गुण अव्यक्त है; पदार्थ आत्मा व तीसरा आकाश व चौथा काल। दिशा आकाश प्रदेशोंकी संकल्पना है। मन मूर्त है वह भी भौतिक है। हाँ विशेष दृष्टिसे अनन्त गुण कर्म आदिका ज्ञान बिल्कुल ठीक है। वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य गुण कर्म आदि भेद-दृष्टि हटकर नित्य, उपादान कारणभूत, मूल तत्त्वमय द्रव्यका परिचय हो जाय, जिस परिचय

जलद्रव्य भी दो प्रकारका है– कारणरूप तो नित्य है, व कार्यरूप अनित्य है। ३–तेजोद्रव्य में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व व संस्कार नामक गुण होते हैं। यह भी दो प्रकारका है—कारणरूप तो नित्य है व कार्यरूप अनित्य है। ४–वायुमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, संस्कार नामक गुण होते हैं। यह भी दो प्रकारका है—कारणरूप वायु तो नित्य है व कार्यरूप वायु अनित्य है। ५- आकाशमें शब्द, संख्या, परिमाण, (महत्परिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग, एकत्व व नित्यत्व गुण होते हैं। ६–कालमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, एकत्व गुण होते हैं। ७- दिशामें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग गुण होते हैं। ८–आत्मामें बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, (महत्परिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग नामक गुण होते हैं। आत्मा अवस्था भेदसे नाना हैं। ९–मन द्रव्यमें संख्या, परिमाण (अणुपरिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व व संस्कार गुण होते हैं। मन मूर्त है, किन्तु द्रव्यका आरम्भक नहीं।

उक्त पदार्थोंमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य व विशेष, ये ५ निर्गुण व प्रकारके पदार्थ समवायी अनेक हैं, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय—ये ५ निष्क्रिय हैं। इन सब पदार्थोंमें से द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीन प्रकारके पदार्थोंमें तो सत्ताका सम्बन्ध है, किन्तु सामान्य, विशेष व समवाय इनमें सत्ताका सम्बन्ध नहीं है, केवल बुद्धिगम्य है।

वैज्ञानिक पद्धतिसे देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि वास्तविक सत् तो द्रव्य ही है। सामान्य विशेष, समवाय तो बुद्धिगम्य ही हैं; द्रव्यमें इन्हें निरखा जाता है और गुण कर्म भी निर्गुण व निष्क्रिय होनेके कारण द्रव्यकी ही शक्तियाँ व परिणतियाँ हैं, द्रव्यसे पृथक् पदार्थ नहीं। स्वरूपकी दृष्टिसे ही गुण, कर्म आदि पृथक् प्रतीत होते हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे द्रव्यको देखनेपर द्रव्यमें गुण, कर्म, सामान्य, विशेष प्रतीत होते हैं, समवाय तो तादात्म्यका नाम है। नव प्रकारके पदार्थोंमें द्रव्योंमें भी जातिकी अपेक्षा ४ प्रकारके पदार्थ (द्रव्य) ज्ञात होते हैं—एक तो भौतिक, जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु अन्तर्गत हैं क्योंकि पृथ्वी अग्नि बन जाती है, वायु जल बन जाता है इत्यादि परस्पर परिवर्तन देखे जाते हैं। इसी कारण इन चारोंमें रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों गुण रहते हैं। पर्यायभेदसे किसीमें कोई गुण व्यक्त है, कोई गुण अव्यक्त है; पदार्थ आत्मा व तीसरा आकाश व चौथा काल। दिशा आकाश प्रदेशोंकी संकल्पना है। मन मूर्त है वह भी भौतिक है। हाँ विशेष दृष्टिसे अनन्त गुण कर्म आदिका ज्ञान बिल्कुल ठीक है। वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य गुण कर्म आदि भेद-दृष्टि हटकर नित्य, उपादान कारणभूत, मूल तत्त्वमय द्रव्यका परिचय हो जाय, जिस परिचय

है। इस प्रकार प्रलय होनेपर प्रकृति व पुरुष (आत्मा) ये दो तत्व रह जाते हैं। फिर समय पाकर रचना-विकार होने लगता है। यहाँ विशेष यह कहा गया है कि प्रकृति तो इन जालों को करती है और इन जालोंका फल अथवा विषय पुरुष (आत्मा) के द्वारा भोगा जाता है। इस भोगके मिटा देनेका नाम मुक्ति है। पुरुष तो मात्र चैतन्यस्वरूप है और वह चैतन्य ज्ञानसे रहित है।

उक्त दर्शनमें तथ्य क्या है ? यह बात तो दृष्टियोंकी विशेष विशदता करके दार्शनिक विद्वान् स्वयं निर्णय कर लें। इस दर्शनसे जो मुख्य शिक्षा मिलती है वह यह है कि हे आत्माओ ! अपने शुद्ध स्वरूपको निरखो, वह अपरिणामी है, अनाद्यनन्त है, चैतन्यस्वरूप है, अविकारी है। इस सहजस्वरूपके अवलोकन व आश्रयसे विकार परिणमन मिटता है। यह स्वरूप वह है जिसे जैनदर्शनने सामान्य विशेष-चेतनात्मक आत्मामें द्रव्यदृष्टि अथवा निश्चय-दृष्टिसे दिखाया है, किन्तु जैनदर्शनने साथमें यह भी बताया है कि चूँकि आत्मा भी एक वस्तु है। अतः वह भी परिणमनशील है और परिणाम परिणाम कर भी अनाद्यनन्त ध्रुव है। इसके विकारपरिणमनमें प्रकृति (कर्म) निमित्त है। यदि प्रकृतिका उदय न हो तो विकार नहीं हो सकता। अतः व्यवहारमें प्रकृति विकारका कर्ता है। उस विकारके भोगनेका व्यवहार प्रकृतिमें नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकृति अचेतन है। अतः आत्मा उस विकार का भोक्ता है। कर्ता भोक्तापनकी बात जो सांख्यदर्शनमें कही है कि प्रकृतितत्त्व कर्ता है और आत्मा भोक्ता है, वह इस प्रकारकी दृष्टिसे ठीक बैठ जाता है। इस प्रकरणसे भी यह शिक्षा मिलती है कि हे आत्मन् ! विकारका तू कर्ता नहीं है। अतः विकारका अहङ्कार मत कर, तू जबतक अपने शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति नहीं करेगा तब तक तू विकारका भोक्ता रहेगा।

एक यह प्रश्न होनेपर कि जब पुरुष (आत्मा) नित्य अपरिणामी है, अविकारी है तो सुख दुःख भोगनेका विकार इसमें (पुरुषमें) कैसे आ सकता है ? इसके उत्तरमें सांख्य सिद्धान्तमें कहा गया है कि "बुद्धयवसितमर्थं चेतयते" अर्थात् पुरुष तो बुद्धिके द्वारा पेश किये गये अर्थ को चेतता है। यही पुरुषका भोग है। इस अर्थमें ध्वनि तो अनेकान्त स्वरूपकी आती है। देखो—पहिले न चेतना, पीछे चेतना, फिर उसकी वह चेतना भी खतम होकर वह फिर अन्य बुद्धयवसित अर्थको चेतने लगना है, इस तरह तो चेतनेके परिणमन भी तो नये नये होते जाते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्ततोगत्वा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थका स्वरूप प्रतिभास होता ही है, किन्तु उत्पादव्यय अंशकी दृष्टिमें मुमुक्षुके निश्चलता प्रकट नहीं होती है और ध्रुवतत्त्वकी दृष्टिसे निश्चलता प्रकट होती है। अतः कल्याण साधनाके अर्थ अध्यात्मशास्त्रमें ध्रुवस्वभावकी मुख्यता की गई और उसकी उपासनाका उपदेश दिया गया। एककी मुख्यता होनेपर अन्य तो गौण हो ही जाता है। यहाँ यह उत्पाद व्यय गौण होते होते

है। इस प्रकार प्रलय होनेपर प्रकृति व पुरुष (आत्मा) ये दो तत्त्व रह जाते हैं। फिर समय पाकर रचना-विकार होने लगता है। यहाँ विशेष यह कहा गया है कि प्रकृति तो इन जालों को करती है और इन जालोंका फल अथवा विषय पुरुष (आत्मा) के द्वारा भोगा जाता है। इस भोगके मिटा देनेका नाम मुक्ति है। पुरुष तो मात्र चैतन्यस्वरूप है और वह चैतन्य ज्ञानसे रहित है।

उक्त दर्शनमें तथ्य क्या है ? यह बात तो दृष्टियोंकी विशेष विशदता करके दार्शनिक विद्वान् स्वयं निर्णय कर लें। इस दर्शनसे जो मुख्य शिक्षा मिलती है वह यह है कि हे आत्माओ ! अपने शुद्ध स्वरूपको निरखो, वह अपरिणामी है, अनाद्यनन्त है, चैतन्यस्वरूप है, अविकारी है। इस सहजस्वरूपके अवलोकन व आश्रयसे विकार परिणमन मिटता है। यह स्वरूप वह है जिसे जैनदर्शनने सामान्य विशेष-चेतनात्मक आत्मामें द्रव्यदृष्टि अथवा निश्चय-दृष्टिसे दिखाया है, किन्तु जैनदर्शनने साथमें यह भी बताया है कि चूँकि आत्मा भी एक वस्तु है। अतः वह भी परिणमनशील है और परिणाम परिणम कर भी अनाद्यनन्त ध्रुव है। इसके विकारपरिणमनमें प्रकृति (कर्म) निमित्त है। यदि प्रकृतिका उदय न हो तो विकार नहीं हो सकता। अतः व्यवहारमें प्रकृति विकारका कर्ता है। उस विकारके भोगनेका व्यवहार प्रकृतिमें नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकृति अचेतन है। अतः आत्मा उस विकार का भोक्ता है। कर्ता भोक्तापनकी बात जो सांख्यदर्शनमें कही है कि प्रकृतितत्त्व कर्ता है और आत्मा भोक्ता है, वह इस प्रकारकी दृष्टिसे ठीक बैठ जाता है। इस प्रकरणसे भी यह शिक्षा मिलती है कि हे आत्मन् ! विकारका तू कर्ता नहीं है। अतः विकारका अहङ्कार मत कर, तू जबतक अपने शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति नहीं करेगा तब तक तू विकारका भोक्ता रहेगा।

एक यह प्रश्न होनेपर कि जब पुरुष (आत्मा) नित्य अपरिणामी है, अविकारी है तो सुख दुःख भोगनेका विकार इसमें (पुरुषमें) कैसे आ सकता है ? इसके उत्तरमें सांख्य सिद्धान्तमें कहा गया है कि "बुद्ध्यवसितमर्थं चेतयते" अर्थात् पुरुष तो बुद्धिके द्वारा पेश किये गये अर्थ को चेतता है। यही पुरुषका भोग है। इस अर्थमें ध्वनि तो अनेकान्त स्वरूपकी आती है। देखो—पहिले न चेतना, पीछे चेतना, फिर उसकी वह चेतना भी खतम होकर वह फिर अन्य बुद्ध्यवसित अर्थको चेतने लगता है, इस तरह तो चेतनेके परिणमन भी तो नये नये होते जाते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्ततोगत्वा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थका स्वरूप प्रतिभास होता ही है, किन्तु उत्पादव्यय अंशकी दृष्टिमें मुमुक्षुके निश्चलता प्रकट नहीं होती है और ध्रुवतत्त्वकी दृष्टिसे निश्चलता प्रकट होती है। अतः कल्याण साधनाके अर्थ अध्यात्म-शास्त्रमें ध्रुवस्वभावकी मुख्यता की गई और उसकी उपासनाका उपदेश दिया गया। एककी मुख्यता होनेपर अन्य तो गौण हो ही जाता है। यहाँ यह उत्पाद व्यय गौण होते होते

वृत्तियोंका प्रवाह चलता है । संसारी लोग वे ही हैं जो इन चित्तवृत्तियोंको या चित्तवृत्तियों की संतानको आत्मा मान लेते हैं । वे अभौतिक अनात्मवादी कहलाते हैं ।

बौद्ध दर्शनमें चार आर्यसत्य कहे गये हैं— १-दुःख, २-दुःखहेतु (दुःखसमुदय), ३-दुःखनिरोध, ४-दुःखनिरोधहेतु (दुःखनिरोधगामी मार्ग) । १— दुःख पांच उपादान स्कन्धरूप हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान । पृथिवी, जल, अग्नि व वायु— ये रूप उपादान स्कन्ध हैं । संसारी लोक इन रूपोंको तृष्णाका विषय बनाकर दुःखी होता है । वस्तुओं या विचारोंके सम्पर्कमें आकर जो सुख, दुःखरूपमें अनुभव होता है उसे कहते हैं वेदना; यह दुःखमय है । वेदनाके पश्चात् संस्कारोंके कारण जो परिचय चलता है उसे संज्ञा प्रत्यभिज्ञान कहते हैं; ये परिचय भी दुःखका सम्बन्ध बढ़ाते हैं । रूप, वेदना, संज्ञाके संस्कार (अवधारण) होनेको संस्कार कहते हैं; यह भी दुःखरूप है । चेतना या मनको विज्ञान कहते हैं; यह भी दुःखरूप है । इन्हीं सबके मेलसे बनने वाले जन्म, मरण, बुढ़ापा, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शोक आदि दुःख हैं । २--दुःखोंका हेतु तृष्णा है । ये तृष्णायें ३ प्रकारकी हैं— भोगतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा । ३— तृष्णाके नाश होनेको दुःख-निरोध कहते हैं । तृष्णाके नाश होनेपर विषयोंका संग्रह रुक जाता है । विषयसंग्रह रुक जानेसे भवका निरोध हो जाता है । भवका निरोध होनेसे जन्मका निरोध होता है । जन्मके निरोध हो जानेसे बुढ़ापा, मरण, शोक, विषाद आदि सभी दुःखोंका निरोध (विनाश) हो जाता है । ४—दुःखनिरोधहेतु आठ अङ्गरूप हैं—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति और समाधि ।

उक्त चारों तत्त्व ठीक हैं और इनके बारेमें सभीने अपने अपने शब्दोंमें वर्णन किया है, किन्तु चेतना जो कि दशारूप मानी गई है वह किसकी दशा है ? वैज्ञानिक नियम है कि दशा किसी न किसी पदार्थकी होती है, चाहे दशा यथार्थ हो या अयथार्थ । जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होता, जो किसी रूपसे भी नहीं उसका उत्पाद नहीं होता, आखिर दीपनिर्वाणमें भी लौके परमाणु धुवां या अन्य रूपसे किसी न किसी सूक्ष्म रूपमें रहते अवश्य हैं । इस सिद्धान्तसे इतना तो सुनिश्चित है कि अशुद्ध विज्ञान क्षणिक है, दुःखरूप है, दुःखका कारण है । इसके अभावसे दुःखनिरोध है, किन्तु शुद्ध विज्ञान जो कि निर्विकल्प है, विकल्पकोंको अपरिचित है वह अदुःखरूप है ।

बुद्ध दर्शनमें सभी पदार्थ क्षणिक माने गये हैं याने प्रतीत्यसमुत्पन्न माने गये हैं, "एकके नष्ट होनेपर बिल्कुल ही नवीन दूसरा उत्पन्न होता है" ऐसा माना गया है, किन्तु इस क्षणिकवादका प्रयोग अर्थव्यवस्थामें, व्यापार व्यवहारमें नहीं किया गया है । साथ ही अनेक दार्शनिक गम्भीर प्रश्नोंको अव्याकृत [अकथनीय] कहकर छोड़ दिया गया है । सर्व

वृत्तियोंका प्रवाह चलता है। संसारी लोग वे ही हैं जो इन चित्तवृत्तियोंको या चित्तवृत्तियों की संतानको आत्मा मान लेते हैं। वे अभौतिक अनात्मवादी कहलाते हैं।

बौद्ध दर्शनमें चार आर्यसत्य कहे गये हैं— १–दुःख, २–दुःखहेतु (दुःखसमुदय), ३-दुःखनिरोध, ४–दुःखनिरोधहेतु दुःखनिरोधगामी मार्ग)। १— दुःख पांच उपादान स्कन्धरूप हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। पृथिवी, जल, अग्नि व वायु— ये रूप उपादान स्कन्ध हैं। संसारी लोक इन रूपोंको तृष्णाका विषय बनाकर दुःखी होता है। वस्तुओं या विचारोंके सम्पर्कमें आकर जो सुख, दुःखरूपमें अनुभव होता है उसे कहते हैं वेदना; यह दुःखमय है। वेदनाके पश्चात् संस्कारोंके कारण जो परिचय चलता है उसे संज्ञा प्रत्यभिज्ञान कहते हैं; ये परिचय भी दुःखका सम्बन्ध बढ़ाते हैं। रूप, वेदना, संज्ञाके संस्कार (अवधारण) होनेको संस्कार कहते हैं; यह भी दुःखरूप है। चेतना या मनको विज्ञान कहते हैं; यह भी दुःखरूप है। इन्हीं सबके मेलसे बनने वाले जन्म, मरण, बुढ़ापा, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शोक आदि दुःख हैं। २––दुःखोंका हेतु तृष्णा है। ये तृष्णायें ३ प्रकारकी हैं– भोगतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा। ३– तृष्णाके नाश होनेको दुःख-निरोध कहते हैं। तृष्णाके नाश होनेपर विषयोंका संग्रह रुक जाता है। विषयसंग्रह रुक जानेसे भवका निरोध हो जाता है। भवका निरोध होनेसे जन्मका निरोध होता है। जन्मके निरोध हो जानेसे बुढ़ापा, मरण, शोक, विषाद आदि सभी दुःखोंका निरोध (विनाश) हो जाता है। ४—दुःखनिरोधहेतु आठ अङ्गरूप हैं—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति और समाधि।

उक्त चारों तत्त्व ठीक हैं और इनके बारेमें सभीने आपने अपने शब्दोंमें वर्णन किया है, किन्तु चेतना जो कि दशारूप मानी गई है वह किसकी दशा है ? वैज्ञानिक नियम है कि दशा किसी न किसी पदार्थकी होती है, चाहे दशा यथार्थ हो या अयथार्थ। जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होता, जो किसी रूपसे भी नहीं उसका उत्पाद नहीं होता, आखिर दीपनिर्वाणमें भी लौके परमाणु धुवां या अन्य रूपसे किसी न किसी सूक्ष्म रूपमें रहते अवश्य हैं। इस सिद्धान्तसे इतना तो सुनिश्चित है कि अशुद्ध विज्ञान क्षणिक है, दुःखरूप है, दुःखका कारण है। इसके अभावसे दुःखनिरोध है, किन्तु शुद्ध विज्ञान जो कि निर्विकल्प है, विकल्पकोंको अपरिचित है वह अदुःखरूप है।

बुद्ध दर्शनमें सभी पदार्थ क्षणिक माने गये हैं याने प्रतीत्यसमुत्पन्न माने गये हैं, "एकके नष्ट होनेपर बिल्कुल ही नवीन दूसरा उत्पन्न होता है" ऐसा माना गया है, किन्तु इस क्षणिकवादका प्रयोग अर्थव्यवस्थामें, व्यापार व्यवहारमें नहीं किया गया है। साथ ही अनेक दार्शनिक गम्भीर प्रश्नोंको अव्याकृत [अकथनीय] कहकर छोड़ दिया गया है। सर्व

कोई भी वस्तु नहीं मिलती जो कि कल्याणके लिये किसी हद तक सहायक है) ।

(२) योगाचार बाह्य पदार्थको तो सत्ताशून्य मानते हैं, किन्तु विज्ञान (चित्त) को सत्ताशून्य नहीं मानते । इसका कारण वे यह निर्दिष्ट करते हैं कि प्रत्यक्षता केवल विज्ञानों की ही होती है बाह्यपदार्थोंकी नहीं । बाह्य जगत् तो विज्ञानका परिणाम है । विज्ञान ही परमार्थ तत्त्व है, ज्ञाता (आत्मा), ज्ञेय (बाह्य पदार्थ) तो काल्पनिक है । ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् पृथक् वस्तु नहीं है, यह सब विज्ञानका विवर्त है । इस विज्ञानाद्वैतवादसे बोधि (योग) का लाभ है । विज्ञान ही तत्त्व है, विज्ञानका स्वरूप बतानेके लिये ही बाह्य पदार्थकी उपचारसे व्यावहारिकता बताई जाती है । योगाचार सिद्धान्तको विज्ञानवाद भी कहा जाता है । (इसमें यह बात तो सत्य है कि प्रत्यक्षता अथवा वेदन विज्ञानका ही होता है, विज्ञान का विषयभूत होनेसे बाह्यपदार्थका ज्ञान करना उपचारसे कहा जाता है । इससे यह शिक्षा मिलती है कि विज्ञान अथवा विज्ञानमयका बाह्यवस्तुओंसे सम्बन्ध नहीं है । इस दृष्टिसे मोह-भावके विनाशका अवसर मिलता है) ।

(३) सौत्रान्तिकके अभिप्रायसे बाह्यवस्तुका अभाव तो नहीं है, किन्तु बाह्य अर्थ प्रत्यक्षज्ञान द्वारा गम्य नहीं है, केवल अनुमान द्वारा गम्य है अर्थात् बाह्यपदार्थ अनुमेय हैं । इसका कारण यह दिखाया गया है कि पदार्थ तो क्षणिक है इसलिये पदार्थ उत्पन्न होनेके समय उसका प्रत्यक्ष नहीं और जब प्रत्यक्ष किया जाय तब वह पदार्थ नहीं, इससे प्रत्यक्ष प्रवाहको जानता है, बाह्य वस्तुको नहीं । इतने मात्रसे, बाह्य वस्तुकी सत्ता न हो और वह केवल विज्ञानका विकार हो ऐसा नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थविषयक विज्ञानके समय "घटादि मैं हूं" ऐसा बोध नहीं होता, किन्तु यह घटादिक है, ऐसा बोध होता है । यदि बाह्य वस्तु हमारे विज्ञानका विकार ही होता तो उस वस्तुके अनुभवके साथ उस वस्तुकी बाह्यता अनुभूत न होती, लेकिन बाह्यता तो अनुभवमें आती है । इससे बाह्य वस्तुकी सत्ता अवश्य है । इस सिद्धान्तसे यह दृष्टि बनती है कि पर्यायदृष्टिसे वस्तु क्षणक्षणवर्ती है । जिसपर हम प्रेम करना चाहते हैं वह तो प्रेमके कालमें नहीं है, फिर प्रेम करना मूढ़ता है । इस कारण बाह्य वस्तुविषयक उपयोग न करके विश्राम लेना चाहिये) ।

(४) वैभाषिकके अभिप्रायमें विज्ञान एवं बाह्य अर्थ सभी हैं और उनका प्रत्यक्ष भी होता है, लेकिन हैं सबके सब क्षणिक ही । इस अभिप्रायको सर्वास्तित्ववाद व बाह्यार्थ-प्रत्यक्षत्ववाद भी कहते हैं । यहाँ भी प्रयोजन इतना सिद्ध हो जाता है कि क्षणिक पर्यायोंमें अहंबुद्धि या ममबुद्धि न करो । बाह्यपदार्थकी सत्ता न माननेसे भी ममत्वबुद्धि न करनेकी ही बात लाई जा सकती थी, किन्तु बाह्यपदार्थकी सत्ता न माननेपर और बाह्यपदार्थको विज्ञानका विकार ही माननेपर यह दोष आता है कि वह विज्ञानविकार निराश्रय है तो

कोई भी वस्तु नहीं मिलती जो कि कल्याणके लिये किसी हद तक सहायक है) ।

(२) योगाचार बाह्य पदार्थको तो सत्ताशून्य मानते हैं, किन्तु विज्ञान (चित्त) को सत्ताशून्य नहीं मानते । इसका कारण वे यह निर्दिष्ट करते हैं कि प्रत्यक्षता केवल विज्ञानों की ही होती है बाह्यपदार्थोंकी नहीं । बाह्य जगत् तो विज्ञानका परिणाम है । विज्ञान ही परमार्थ तत्त्व है, ज्ञाता (आत्मा), ज्ञेय (बाह्य पदार्थ) तो काल्पनिक है । ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् पृथक् वस्तु नहीं है, वह सब विज्ञानका विवर्त है । इस विज्ञानाद्वैतवादसे बोधि (योग) का नाम है । विज्ञान ही तत्त्व है. विज्ञानका स्वरूप बतानेके लिये ही बाह्य पदार्थकी उपचारसे व्यावहारिकता बताई जाती है । योगाचार सिद्धान्तको विज्ञानवाद भी कहा जाता है । (इसमें यह बात तो सत्य है कि प्रत्यक्षता अथवा वेदन विज्ञानका ही होता है, विज्ञान का विषयभूत होनेसे बाह्यपदार्थका ज्ञान करना उपचारसे कहा जाता है । इससे यह शिक्षा मिलती है कि विज्ञान अथवा विज्ञानमयका बाह्यवस्तुओंसे सम्बन्ध नहीं है । इस दृष्टिसे मोहभावके विनाशका अवसर मिलता है) ।

(३) सौत्रान्तिकके अभिप्रायसे बाह्यवस्तुका अभाव तो नहीं है, किन्तु बाह्य अर्थ प्रत्यक्षज्ञान द्वारा गम्य नहीं है, केवल अनुमान द्वारा गम्य है अर्थात् बाह्यपदार्थ अनुमेय हैं । इसका कारण यह दिखाया गया है कि पदार्थ तो क्षणिक है इसलिये पदार्थ उत्पन्न होनेके समय उसका प्रत्यक्ष नहीं और जब प्रत्यक्ष किया जाय तब वह पदार्थ नहीं, इससे प्रत्यक्ष प्रवाहको जानता है, बाह्य वस्तुको नहीं । इतने मात्रसे, बाह्य वस्तुकी सत्ता न हो और वह केवल विज्ञानका विकार हो ऐसा नहीं है. क्योंकि बाह्य पदार्थविषयक विज्ञानके समय "घटादि मैं हूं" ऐसा बोध नहीं होता, किन्तु यह घटादिक है, ऐसा बोध होता है । यदि बाह्य वस्तु हमारे विज्ञानका विकार ही होता तो उस वस्तुके अनुभवके साथ उस वस्तुकी बाह्यता अनुभूत न होती, लेकिन बाह्यता तो अनुभवमें आती है । इससे बाह्य वस्तुकी सत्ता अवश्य है । इस सिद्धान्तसे यह दृष्टि बनती है कि पर्यायदृष्टिसे वस्तु क्षणक्षणवर्ती है । जिसपर हम प्रेम करना चाहते हैं वह तो प्रेमके कालमें नहीं है. फिर प्रेम करना मूढ़ता है । इस कारण बाह्य वस्तुविषयक उपयोग न करके विश्राम लेना चाहिये) ।

(४) वैभाषिकके अभिप्रायमें विज्ञान एवं बाह्य अर्थ सभी हैं और उनका प्रत्यक्ष भी होता है. लेकिन हैं सबके सब क्षणिक ही । इस अभिप्रायको सर्वास्तित्ववाद व बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद भी कहते हैं । यहाँ भी प्रयोजन इतना सिद्ध हो जाता है कि क्षणिक पर्यायोंमें अहंबुद्धि या ममबुद्धि न करो । बाह्यपदार्थकी सत्ता न माननेसे भी ममत्वबुद्धि न करनेकी ही बात लाई जा सकती थी, किन्तु बाह्यपदार्थकी सत्ता न माननेपर और बाह्यपदार्थको विज्ञानका विकार ही माननेपर यह दोष आता है कि वह विज्ञानविकार निराश्रय है तो

(यथा समय शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान करना), ३– आसन, ४– प्राणायाम, ५–प्रत्याहार (विषय त्याग), ६– धारणा, ७– ध्यान व ८– समाधि।

योगसाधनके उपायमें सर्वोत्कृष्ट उपाय विवेकख्याति है। द्रष्टा (आत्मा) में व दृश्य (प्रकृति) में विवेक (भेदज्ञान) होनेको विवेकख्याति कहते हैं। द्रष्टा आत्मा चेतनमात्र है। आत्मा शुद्ध, निर्विकार, अपरिणामी है। अनादि कालसे लगी हुई अविद्याके कारण प्रकृति का सम्बन्ध है। जिसके कारण प्रकृतिके विकाररूप बुद्धिमें आत्माका अभेद बोध हो गया है। बुद्धि और आत्माके इस एकीभावको दूर करना, सो विवेकख्याति है। इस दर्शनमें बुद्धि अचेतन है और आत्मा चेतन है, इन दोनोंके संयोगमें कारणबुद्धिमें आत्माका प्रतिविम्ब पड़नेसे द्रष्टापन आ जाता है अथवा द्रष्टा व दर्शनशक्तिमें भेद करना, सो विवेकख्याति है अथवा बुद्धि न चेतन है, और न अचेतन है, किन्तु चिदाभास है। चिदाभासमें व शुद्ध चैतन्यमें भेदज्ञान करना सो विवेकख्याति है।

उक्त सिद्धान्तको जैनदर्शनमें इस प्रकार कहा है कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध चैतन्यमात्र है। अनादिकालसे अविद्यावश आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें कर्मप्रकृतिका सम्बन्ध है। उनमेंसे समय प्राप्त प्रकृतिके विपाकवश आत्माके अपूर्ण ज्ञान आदि विकारपरिणमन होता है। इन अपूर्ण ज्ञान आदि भावोंमें व शुद्ध चैतन्यस्वभाव मात्र आत्मामें जब यह भेदविज्ञान हो जाता है कि यह आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र है और ये विज्ञानादि प्रकृतिनिमित्तक विकार है और विकारभावोंसे उपेक्षा कर निज शुद्ध चैतन्यस्वभावके अभिमुख होता है तो वह विवेकख्याति अथवा सम्यग्दर्शन होता है, जिसके आश्रयपर समाधि व योगकी पूर्णता होकर सर्वज्ञत्व व परमानन्दमयत्व प्रकट हो जाता है।

इस योगदर्शनमें, समाधियोंके स्थान इस प्रकार कहे गये हैं— १–सवितर्क, २–निर्वितर्क, ३–सविचार, ४–सानन्द, ५–सास्मिता, ६–निर्विचार, ७–निर्बीज, ८–धर्ममेघ। इनमेंसे पहिलेकी ६ समाधियोंको सम्प्रज्ञात योग कहते हैं व अन्तकी दो समाधियोंको असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। १–स्थूल पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विकल्प प्रवर्तमान रहें उसे सवितर्क समाधि कहते हैं। २–स्थूल पदार्थोंके ध्यानमें स्थूल पदार्थविषयक शब्द, अर्थ व ज्ञानका विकल्प न रहनेको निर्वितर्क समाधि कहते हैं। ३-सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्पको सविचार समाधि कहते हैं। ४–सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्प तो न हों, किन्तु आनन्दका व अहम्प्रत्यय का अनुभव हो, उसे सानन्दसमाधि कहते हैं। ५–और जब आनन्दकी प्रतीति भी लुप्त हो जाय, किन्तु अहंप्रत्ययका अनुभव रहे उसे सास्मिता समाधि कहते हैं, ६–सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्पके न होनेको निर्विचारसमाधि कहते हैं।

(यथा समय शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान करना), ३– आसन, ४– प्राणायाम, ५–प्रत्याहार (विषय त्याग), ६– धारणा, ७– ध्यान व ८– समाधि।

योगसाधनके उपायमें सर्वोत्कृष्ट उपाय विवेकख्याति है। द्रष्टा (आत्मा) में व दृश्य (प्रकृति) में विवेक (भेदज्ञान) होनेको विवेकख्याति कहते हैं। द्रष्टा आत्मा चेतनमात्र है। आत्मा शुद्ध, निर्विकार, अपरिणामी है। अनादि कालसे लगी हुई अविद्याके कारण प्रकृति का सम्बन्ध है। जिसके कारण प्रकृतिके विकाररूप बुद्धिमें आत्माका अभेद बोध हो गया है। बुद्धि और आत्माके इस एकीभावको दूर करना, सो विवेकख्याति है। इस दर्शनमें बुद्धि अचेतन है और आत्मा चेतन है, इन दोनोंके संयोगमें कारणबुद्धिमें आत्माका प्रतिविम्ब पड़नेसे द्रष्टापन आ जाता है अथवा द्रष्टा व दर्शनशक्तिमें भेद करना, सो विवेकख्याति है अथवा बुद्धि न चेतन है, और न अचेतन है, किन्तु चिदाभास है। चिदाभासमें व शुद्ध चैतन्यमें भेदज्ञान करना सो विवेकख्याति है।

उक्त सिद्धान्तको जैनदर्शनमें इस प्रकार कहा है कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध चैतन्यमात्र है। अनादिकालसे अविद्यावश आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें कर्मप्रकृतिका सम्बन्ध है। उनमेंसे समय प्राप्त प्रकृतिके विपाकवश आत्माके अपूर्ण ज्ञान आदि विकारपरिणमन होता है। इन अपूर्ण ज्ञान आदि भावोंमें व शुद्ध चैतन्यस्वभाव मात्र आत्मामें जब यह भेदविज्ञान हो जाता है कि यह आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र है और ये विज्ञानादि प्रकृतिनिमित्तक विकार हैं और विकारभावोंसे उपेक्षा कर निज शुद्ध चैतन्यस्वभावके अभिमुख होता है तो वह विवेकख्याति अथवा सम्यग्दर्शन होता है, जिसके आश्रयपर समाधि व योगकी पूर्णता होकर सर्वज्ञत्व व परमानन्दमयत्व प्रकट हो जाता है।

इस योगदर्शनमें, समाधियोंके स्थान इस प्रकार कहे गये हैं— १–सवितर्क, २–निर्वितर्क, ३–सविचार, ४–सानन्द, ५–सास्मिता, ६–निर्विचार, ७–निर्बीज, ८–धर्ममेघ। इनमेंसे पहिलेकी ६ समाधियोंको सम्प्रज्ञात योग कहते हैं व अन्तकी दो समाधियोंको असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। १–स्थूल पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विकल्प प्रवर्तमान रहें उसे सवितर्क समाधि कहते हैं। २–स्थूल पदार्थोंके ध्यानमें स्थूल पदार्थविषयक शब्द, अर्थ व ज्ञानका विकल्प न रहनेको निर्वितर्क समाधि कहते हैं। ३-सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्पको सविचार समाधि कहते हैं। ४–सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्प तो न हों, किन्तु आनन्दका व अहम्प्रत्यय का अनुभव हो, उसे सानन्दसमाधि कहते हैं। ५–और जब आनन्दकी प्रतीति भी लुप्त हो जाय, किन्तु अहंप्रत्ययका अनुभव रहे उसे सास्मिता समाधि कहते हैं, ६–सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्पके न होनेको निर्विचारसमाधि कहते हैं।

क्षय होनेके हेतु जो सर्वथा निरवद्य स्थिति होती है उसे व्युपरतक्रिया निवृत्ति कहते हैं। इस समाधिके अनन्तर मुक्तात्मा प्रकृतिसे सर्वथा वियुक्त व विदेह होकर अनन्तकाल तक अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं, भविष्यमें कभी भी क्लेश या प्रकृतिके सम्बन्धमें नहीं आते। यही निर्वाण अथवा मुक्ति है।

योग (समाधिसे) सर्वक्लेशोंका विच्छेद होता है। क्लेश ५ प्रकारके है—१--अविद्या २- अस्मिता, ३- राग, ४- द्वेष और ५--अभिनिवेश। अविद्या महाक्लेश है और अस्मिता आदि चारों क्लेशोंका कारण है। आत्मा और बुद्धिकी एकात्मताको अस्मिता कहते हैं। सुखकी प्रतीति लेकर होनेवाले क्लेशको राग कहते हैं। दुःखकी प्रतीतिको लेकर होनेवाले क्लेशको द्वेष कहते हैं। परम्परागत स्वभावसे चले आ रहे मरणभयादि रूप क्लेशमय अभिप्रायको अभिनिवेश कहते हैं। अविद्या इन चारों क्लेशोंका कारण है। अनित्य पदार्थोंमें नित्यकी प्रतीति, अपवित्र पदार्थोंमें पवित्रताकी प्रतीति, दुःखमें सुखकी प्रतीति और अनात्मा (परपदार्थों) में आत्माकी प्रतीति होनेको अविद्या कहते हैं। विवेकख्याति द्वारा अविद्याका नाश होता है और अविद्याके नाश होनेपर अस्मितादि सर्वक्लेशोंका नाश होता है। इस तत्त्व को जैन-दर्शनके इन शब्दोंमें समझ लेना चाहिये कि भेदविज्ञानके दृढ़तर अभ्याससे दर्शनमोह का नाश होता है और दर्शनमोहके नाश होनेपर चारित्रमोहका नाश होता है।

———

चार्वाक् दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

चारु वाक् जिसके लगें अर्थात् लौकिक सुखप्रेमियोंको जिसके वचन अच्छे लगें, उन्हें चारुवाक् अथवा चार्वाक् कहते हैं। चार्वाक् केवल इन्द्रियप्रत्यक्षसिद्ध तत्त्वको मानते हैं। इनका सिद्धान्त इस प्रकार है—लोकमें तत्त्व ४ हैं—[१] पृथ्वी, [२] जल, [३] अग्नि व [४] वायु। इनसे अतिरिक्त अन्य कुछ प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। कल्पनाके आधारपर मानी हुई बात प्रमाणभूत नहीं हो सकती। चार्वाक् लोग जीवकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं मानते हैं। इस सम्बन्धमें उनका सिद्धान्त है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इन्हीं चार तत्त्वोंका योग्य सम्मिश्रण होनेपर उस पिण्डमें चेतनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। जब इन तत्त्वोंका यह सम्मिश्रण मिट जाता है याने इन चार तत्त्वोंमें से कोई तत्त्व दूसरेको सहयोग नहीं देता अर्थात् पृथ्वी पृथ्वीमें, जल जलमें, अग्नि अग्निमें व वायु वायुमें अन्तर्हित हो जाती है तब चेतनेकी शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी अवस्थाको दुनियामें मरण कहा जाता है। इस मरणके बाद चैतन्यशक्ति ही समाप्त हो जाती है। फिर जीवके परलोकका मानना भ्रम ही है। जैसे कोदों, महुवा, सीरा आदिक द्रव्योंके संचित किये रहनेसे उनमें मादक शक्ति उत्पन्न

क्षय होनेके हेतु जो सर्वथा निरवद्य स्थिति होती है उसे व्युपरतक्रिया निवृत्ति कहते हैं। इस समाधिके अनन्तर मुक्तात्मा प्रकृतिसे सर्वथा वियुक्त व विदेह होकर अनन्तकाल तक अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं, भविष्यमें कभी भी क्लेश या प्रकृतिके सम्बन्धमें नहीं आते। यही निर्वाण अथवा मुक्ति है।

योग (समाधिसे) सर्वक्लेशोंका विच्छेद होता है। क्लेश ५ प्रकारके हैं—१--अविद्या २ - अस्मिता, ३— राग, ४— द्वेष और ५--अभिनिवेश। अविद्या महाक्लेश है और अस्मिता आदि चारों क्लेशोंका कारण है। आत्मा और बुद्धिकी एकात्मताको अस्मिता कहते हैं। सुखकी प्रतीति लेकर होनेवाले क्लेशको राग कहते हैं। दुःखकी प्रतीतिको लेकर होनेवाले क्लेशको द्वेष कहते हैं। परम्परागत स्वभावसे चले आ रहे मरणभयादि रूप क्लेशमय अभिप्रायको अभिनिवेश कहते हैं। अविद्या इन चारों क्लेशोंका कारण है। अनित्य पदार्थोंमें नित्यकी प्रतीति, अपवित्र पदार्थोंमें पवित्रताकी प्रतीति, दुःखमें सुखकी प्रतीति और अनात्मा (परपदार्थो) में आत्माकी प्रतीति होनेको अविद्या कहते हैं। विवेकख्याति द्वारा अविद्याका नाश होता है और अविद्याके नाश होनेपर अस्मितादि सर्वक्लेशोंका नाश होता है। इस तत्त्व को जैन-दर्शनके इन शब्दोंसे समझ लेना चाहिये कि भेदविज्ञानके दृढ़तर अभ्याससे दर्शनमोह का नाश होता है और दर्शनमोहके नाश होनेपर चारित्रमोहका नाश होता है।

———

चार्वाक् दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

चारु वाक् जिसके लगें अर्थात् लौकिक सुखप्रेमियोंको जिसके वचन अच्छे लगें, उन्हें चारुवाक् अथवा चार्वाक् कहते हैं। चार्वाक् केवल इन्द्रियप्रत्यक्षसिद्ध तत्त्वको मानते हैं। इनका सिद्धान्त इस प्रकार है— लोकमें तत्त्व ४ हैं—[१] पृथ्वी, [२] जल, [३] अग्नि व [४] वायु। इनसे अतिरिक्त अन्य कुछ प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। कल्पनाके आधारपर मानी हुई बात प्रमाणभूत नहीं हो सकती। चार्वाक् लोग जीवकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं मानते हैं। इस सम्बन्धमें उनका सिद्धान्त है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इन्हीं चार तत्त्वोंका योग्य सम्मिश्रण होनेपर उस पिण्डमें चेतनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। जब इन तत्त्वोंका यह सम्मिश्रण मिट जाता है याने इन चार तत्त्वोंमें से कोई तत्त्व दूसरेको सहयोग नहीं देता अर्थात् पृथ्वी पृथ्वीमें, जल जलमें, अग्नि अग्निमें व वायु वायुमें अन्तर्हित हो जाती है तब चेतनेकी शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी अवस्थाको दुनियामें मरण कहा जाता है। इस मरणके बाद चैतन्यशक्ति ही समाप्त हो जाती है। फिर जीवके परलोकका मानना भ्रम ही है। जैसे कोदों, महुवा, सीरा आदिक द्रव्योंके संचित किये रहनेसे उनमें मादक शक्ति उत्पन्न

कुछ अनुभव निम्न प्रकार हो सकते हैं--[१] प्रारम्भसे ही वैषयिक सुखोंमें जीवोंके प्रीति चली आ रही है और इसी कारण वर्तमान इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जाता है। इससे इन्द्रिय प्रत्यक्षसे आगेकी बात न मानना व वैषयिक सुखमें हित समझना प्राकृतिक बात हो जाती है। [२] यदि कुछ अनुमेय, सूक्ष्म एवं आर्षवचनोंकी चर्चा, शिक्षा भी ली ही तो भी उनका साक्षात् अनुभव न होनेसे कोरे ज्ञानसे ऊब कर उसके विरुद्ध प्रतीकार इसी रूपमें हो सकता है। [३] धर्मके नाम पर यज्ञ, होम आदि क्रियाकाण्ड इतने बढ़ गये हों जिससे सारभूत तत्त्वकी गन्ध भी न रह गई हो, तब उस ओरके अविश्वास व निर्विकल्प मार्गकी अप्राप्तिके कारण उन क्रियाकाण्डोंके विरुद्ध इस लोकायतिकताके रूपमें लोकोंका अभिप्राय बन गया।

यद्यपि चार्वाक्‌के नामसे इस सिद्धान्तके मानने वाले प्रसिद्ध नहीं हैं तथापि यह मानना पड़ेगा ही कि जो इस प्रकारके सिद्धान्त (अभिप्राय) को धारण करे वह लोकायतिक है, चाहे इसे किसी नामसे कहा जावे अथवा न कहा जावे। इस सिद्धान्तके माननेके दो परिणाम हो सकते हैं--[१] स्वार्थान्धता, [२] सामाजिक सुव्यवस्थाको उत्पन्न करना स्वार्थान्धताकी बात तो सुगम है, क्योंकि जब मात्र जिस किसी प्रकार लोकसुख मिले यह उद्देश्य है, तब तो इसकी पूर्तिमें ही यत्न करना विधेय रह जाता है। कुछ विवेकसे काम ने पर इस सिद्धान्तके आधारपर भी सामाजिक सुव्यवस्थाका परिणाम भी बन जाता है। सका कारण यह है कि हम लोकसुखके सुखी भी तभी हो सकते हैं जब कि हमारे सुखमें ोई विघ्न करनेवाला न रहे। ऐसा सभी लोग चाहते हैं। अतः सबको सुख रहे, ऐसी यवस्था बनाना अत्यावश्यक है। इस व्यवस्थाका मूल कारण भावोंकी पवित्रता है, दुखियों ो सहयोग देना है, किसीको नहीं सताना है, झूठ नहीं बोलना है, चोरी नहीं करना है रस्त्रीकी ओर कुदृष्टि नहीं करना है, परिग्रहका अतिसंचय नहीं करना है, संचित परिग्रह ा यथाशक्ति जनताके लाभके लिये वितरण करना है। उक्त सत्व्यवहारोंके कारण खुदका ीवन भी सुखमय, क्लेशरहित व संक्लेशरहित बीतता है।

परलोक व ईश्वर (परमात्मा) की मान्यता इस सिद्धान्तमें है ही नहीं, तब इस करणमें इसके विषयमें क्या लिखा जाय? किन्तु माध्यमसे भी विचारा जाय तो यह युक्त मालूम होता है कि राग-द्वेषरहित मात्र ज्ञाता रहनेवाले स्वरूपकी दृष्टि की जावे तो नाकुलताका पथ मिलता है, सो यदि वीतराग विज्ञानकी दृष्टि व पापनिवृत्तिसे यदि जीवन ताया जाय तो इस लोकमें तो आनन्द होता ही है व परलोक भी यदि हो तो परलोकमें ी आनन्द होगा ही। अतः वीतराग विज्ञानकी दृष्टि व पापनिवृत्ति तो अत्यावश्यक है ही। स दर्शनसे केवल यह शिक्षा तो ले सकते हैं कि 'अन्धविश्वासका आदर न करें, किन्तु

कुछ अनुभव निम्न प्रकार हो सकते हैं--[१] प्रारम्भसे ही वैषयिक सुखोंमें जीवोंके प्रीति चली आ रही है और इसी कारण वर्तमान इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जाता है। इससे इन्द्रिय प्रत्यक्षसे आगेकी बात न मानना व वैषयिक सुखमें हित समझना प्राकृतिक बात हो जाती है । [२] यदि कुछ अनुमेय, सूक्ष्म एवं आर्षवचनोंकी चर्चा, शिक्षा भी ली ही तो भी उनका साक्षात् अनुभव न होनेसे कोरे ज्ञानसे ऊब कर उसके विरुद्ध प्रतीकार इसी रूपमें हो सकता है । [३] धर्मके नाम पर यज्ञ, होम आदि क्रियाकाण्ड इतने बढ़ गये हों जिससे सारभूत तत्त्वकी गन्ध भी न रह गई हो, तब उस ओरके अविश्वास व निर्विकल्प मार्गकी अप्राप्तिके कारण उन क्रियाकाण्डोंके विरुद्ध इस लोकायतिकताके रूपमें लोकोंका अभिप्राय बन गया।

यद्यपि चार्वाक्के नामसे इस सिद्धान्तके मानने वाले प्रसिद्ध नहीं हैं तथापि यह मानना पड़ेगा ही कि जो इस प्रकारके सिद्धान्त (अभिप्राय) को धारण करे वह लोकायतिक है, चाहे इसे किसी नामसे कहा जावे अथवा न कहा जावे। इस सिद्धान्तके माननेके दो परिणाम हो सकते हैं--[१] स्वार्थान्धता, [२] सामाजिक सुव्यवस्थाको उत्पन्न करना स्वार्थान्धताकी बात तो सुगम है, क्योंकि जब मात्र जिस किसी प्रकार लोकसुख मिले यह उद्देश्य है, तब तो इसकी पूर्तिमें ही यत्न करना विधेय रह जाता है। कुछ विवेकसे काम ने पर इस सिद्धान्तके आधारपर भी सामाजिक सुव्यवस्थाका परिणाम भी बन जाता है। सका कारण यह है कि हम लोकसुखके सुखी भी तभी हो सकते हैं जब कि हमारे सुखमें ोई विघ्न करनेवाला न रहे। ऐसा सभी लोग चाहते हैं। अतः सबको सुख रहे, ऐसी यवस्था बनाना अत्यावश्यक है। इस व्यवस्थाका मूल कारण भावोंकी पवित्रता है, दुखियों ो सहयोग देना है, किसीको नहीं सताना है, झूठ नहीं बोलना है, चोरी नहीं करना है रस्त्रीकी ओर कुदृष्टि नहीं करना है, परिग्रहका अतिसंचय नहीं करना है, संचित परिग्रह ा यथाशक्ति जनताके लाभके लिये वितरण करना है। उक्त सत्व्यवहारोंके कारण खुदका ीवन भी सुखमय, क्लेशरहित व संक्लेशरहित बीतता है।

परलोक व ईश्वर (परमात्मा) की मान्यता इस सिद्धान्तमें है ही नहीं, तब इस करणमें इसके विषयमें क्या लिखा जाय? किन्तु माध्यमसे भी विचारा जाय तो यह युक्त मालूम होता है कि राग-द्वेषरहित मात्र ज्ञाता रहनेवाले स्वरूपकी दृष्टि की जावे तो नाकुलताका पथ मिलता है, सो यदि वीतराग विज्ञानकी दृष्टि व पापनिवृत्तिसे यदि जीवन ताया जाय तो इस लोकमें तो आनन्द होता ही है व परलोक भी यदि हो तो परलोकमें ो आनन्द होगा ही। अतः वीतराग विज्ञानकी दृष्टि व पापनिवृत्ति तो अत्यावश्यक है ही। स दर्शनसे केवल यह शिक्षा तो ले सकते हैं कि 'अन्धविश्वासका आदर न करें, किन्तु

व्याप्य, अणु, अनेकरूप, बद्ध एवं मुक्त हैं और सामान्यस्वरूपसे देखनेपर चैतन्यसामान्य सविशेष न होनेसे अद्वैत है, अपरिणामी है, व्यापक है, एकस्वरूप है, सदामुक्त है, यही स्वरूप ब्रह्म है, जो कि समस्त परिणमोंका आश्रय है, अतएव च स्रष्टा है।)

निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तमें एक ब्रह्म तत्त्व ही है। जीव अजीवादि अनेकता सब ब्रह्मका विवर्त हैं। इसका कारण माया है। माया ब्रह्मकी इच्छा है। ब्रह्मके इच्छा होती है कि मैं एक हूं बहुत हो जाऊँ। तब यह सब विवर्त उत्पन्न होता है। ब्रह्मके ४ पाद हैं (१ जागृत, (२ सुषुप्ति, (३ अन्तःप्रज्ञ, (४) तुरीयपाद। जैसे यहाँ प्राणियोंका जगना देखा जा रहा है, इसी प्रकार अविद्यावश नाना विकल्प, कर्तृत्त्व आदिमें लगनेकी अवस्थाको जागृत कहते हैं। जैसे प्राणी सो जाता है तब बाह्यचेष्टायें कुछ नहीं होतीं, किन्तु मनमें ही सूक्ष्म बोध वर्तता रहता है। इसी प्रकार कुछ विवेककी ओर जानेपर जिसमें कि बाह्य क्रियाओंसे उपेक्षा हो जाती है और अन्तरङ्गमें ज्ञानधारा चलती है ऐसी विवेकपूर्ण स्थितिको सुषुप्ति कहते हैं। विवेक ज्ञानके अनन्तर ब्रह्ममें हुई संस्थितके कारण जो आनन्दमय स्थिति है, पूर्ण-प्रज्ञकी स्थिति है उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। उक्त तीनों स्थितियोंसे परे, किन्तु तीनों स्थितियों का आश्रयभूत, अतीन्द्रियगम्य, अनिर्वचनीय तत्त्व ब्रह्म है। (विज्ञानदृष्टिसे ऐसा जाना जा सकता है कि आत्मा वस्तु है अतः ध्रुव होकर भी स्वपर्यायोंमें परिणमनशील है। यह आत्मा कर्म उपाधिवश जब मोहपरिणमनसे परिणमता है तब वह उसकी जाग्रत अवस्था है। इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको बहिरात्मा कहते हैं। यह आत्मा जब भेदविज्ञान करके बाह्य पदार्थोंमें उपेक्षा करता है और निज चैतन्यस्वरूपमें उपयुक्त होता है तो वह उसकी सुषुप्ति अवस्था है, इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको अन्तरात्मा कहते हैं। यह आत्मा जब स्वभावाश्रयके बलसे रागादि सर्व तरङ्गोंसे रहित होता है तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी होता है व सर्व कर्म देहकी उपाधिसे मुक्त होता है, इस स्थितिको अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको परमात्मा, भगवान, जिनेन्द्र, सिद्ध, मुक्तात्मा आदि कहते हैं। ये सब स्थितियां जिस चेतन पदार्थकी होती हैं वह अनादिसे अनन्त चैतन्यस्वभावसे अवस्थित है, उसकी परिणतियोंपर दृष्टि न रखकर यदि केवल निरपेक्ष सत्‌को देखा जाय तो वही तुरीयपाद है। इस निरपेक्ष सत्‌को ब्रह्म, परम पारिणामिक भाव, चैतन्यस्वरूप, ज्ञायक आदि शब्दोंसे कह सकते हैं।

माया ब्रह्मकी इच्छा है। जब इच्छा हुई तो यह विकार माना जाना चाहिये और इस कारण ब्रह्म परिणामी, विकारी माना जाना चाहिये, किन्तु निरपेक्ष सत्त्वके स्वरूपकी रक्षा करना ही प्रयोजन मालूम होता है कि इतने पर भी ब्रह्मको अपरिणामी व अविकारी माना गया है। इस विकट समस्याका हल स्याद्वादके निश्चयनय व व्यवहारनयसे किया

व्याप्य, अणु, अनेकरूप, बद्ध एवं मुक्त हैं और सामान्यस्वरूपसे देखनेपर चैतन्यसामान्य सविशेष न होनेसे अद्वैत है, अपरिणामी है, व्यापक है, एकस्वरूप है, सदामुक्त है, यही स्वरूप ब्रह्म है, जो कि समस्त परिणामोंका आश्रय है, अतएव च स्रष्टा है।)

निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तमें एक ब्रह्म तत्त्व ही है। जीव अजीवादि अनेकता सब ब्रह्मका विवर्त हैं। इसका कारण माया है। माया ब्रह्मकी इच्छा है। ब्रह्मके इच्छा होती है कि मैं एक हूं बहुत हो जाऊँ। तब यह सब विवर्त उत्पन्न होता है। ब्रह्मके ४ पाद हैं (१ जागृत, (२ सुषुप्ति, (३ अन्तःप्रज्ञ, (४) तुरीयपाद। जैसे यहाँ प्राणियोंका जगना देखा जा रहा है, इसी प्रकार अविद्यावश नाना विकल्प, कर्तृत्व आदिमें लगनेकी अवस्थाको जागृत कहते हैं। जैसे प्राणी सो जाता है तब बाह्यचेष्टायें कुछ नहीं होतीं, किन्तु मनमें ही सूक्ष्म बोध वर्तता रहता है। इसी प्रकार कुछ विवेककी ओर जानेपर जिसमें कि बाह्य क्रियाओंसे उपेक्षा हो जाती है और अन्तरङ्गमें ज्ञानधारा चलती है ऐसी विवेकपूर्ण स्थितिको सुषुप्ति कहते हैं। विवेक ज्ञानके अनन्तर ब्रह्ममें हुई संस्थितके कारण जो आनन्दमय स्थिति है, पूर्ण-प्रज्ञकी स्थिति है उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। उक्त तीनों स्थितियोंसे परे, किन्तु तीनों स्थितियों का आश्रयभूत, अतीन्द्रियगम्य, अनिर्वचनीय तत्त्व ब्रह्म है। (विज्ञानदृष्टिसे ऐसा जाना जा सकता है कि आत्मा वस्तु है अतः ध्रुव होकर भी स्वपर्यायोंमें परिणमनशील है। यह आत्मा कर्म उपाधिवश जब मोहपरिणमनसे परिणमता है तब वह उसकी जाग्रत अवस्था है। इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको बहिरात्मा कहते हैं। यह आत्मा जब भेदविज्ञान करके बाह्य पदार्थोंमें उपेक्षा करता है और निज चैतन्यस्वरूपमें उपयुक्त होता है तो वह उसकी सुषुप्ति अवस्था है, इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको अन्तरात्मा कहते हैं। यह आत्मा जब स्वभावाश्रयके बलसे रागादि सर्व तरङ्गोंसे रहित होता है तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी होता है व सर्व कर्म देहकी उपाधिसे मुक्त होता है, इस स्थितिको अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको परमात्मा, भगवान, जिनेन्द्र, सिद्ध, मुक्तात्मा आदि कहते हैं। ये सब स्थितियां जिस चेतन पदार्थकी होती हैं वह अनादिसे अनन्त चैतन्यस्वभावसे अवस्थित है, उसकी परिणतियोंपर दृष्टि न रखकर यदि केवल निरपेक्ष सत्‌को देखा जाय तो वही तुरीयपाद है। इस निरपेक्ष सत्‌को ब्रह्म, परम पारिणामिक भाव, चैतन्यस्वरूप, ज्ञायक आदि शब्दोंसे कह सकते हैं।

माया ब्रह्मकी इच्छा है। जब इच्छा हुई तो यह विकार माना जाना चाहिये और इस कारण ब्रह्म परिणामी, विकारी माना जाना चाहिये, किन्तु निरपेक्ष सत्त्वके स्वरूपकी रक्षा करना ही प्रयोजन मालूम होता है कि इतने पर भी ब्रह्मको अपरिणामी व अविकारी माना गया है। इस विकट समस्याका हल स्याद्वादके निश्चयनय व व्यवहारनयसे किया

(चेतन द्रव्य) के विवर्त हैं, अतः जीव ब्रह्मके शरीर हैं। यह जीव जब अपने स्रोत चैतन्य (ब्रह्म) स्वरूपको नहीं देखता है तब बाह्य तत्त्वोंमें उपयुक्त रहनेसे भटकते और क्लेश पाते रहते हैं। जब जीव अपने स्रोत ब्रह्मस्वरूप (चैतन्यभाव) में उपयुक्त होते हैं तब सर्व कर्म क्लेशोंसे विमुक्त हो जाते हैं। ये मुक्तात्मा ब्रह्मस्वभावके अनुरूप विकसित हो जानेसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निष्कलङ्क, अविकार व अनन्तानन्दमय हो जाते हैं, परन्तु मुक्तात्मा भी एक शुद्ध पर्याय है। पर्याय पर्यायका सृष्टिकर्ता नहीं होता है क्योंकि पर्याय स्वयं सृष्टि है। अतः मुक्तात्मा सृष्टिकर्ता नहीं होते, ब्रह्म ही (चेतन द्रव्य ही) सृष्टिकर्ता है। सर्वचेतनोंका स्वरूप एक है, अतः स्वरूपाभेदसे ब्रह्म एक है।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें अभिमत है कि जीव परमात्मासे भिन्न है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक ही वृक्षरूपी शरीरमें रहते हैं। उनमेंसे एक (जीव) कर्मके फलको भोगता है और परमात्मा स्वकर्मके फलको न भोगता हुआ जीवको भोगाकर अत्यन्त प्रकाशित होता है। (यह सब सामान्यविशेषात्मकताकी दृष्टिसे देखनेपर एक चेतनद्रव्यमें घटित हो जाता है। ब्रह्म परमार्थदृष्टिका विषय है व जीव व्यवहारदृष्टिका विषय है। अतः ब्रह्म भोक्ता नहीं है, जीव भोक्ता है)।

समस्त चित् व अचित् पदार्थ भिन्न-भिन्न सत्तात्मक हैं। ईश्वर व चित्में चैतन्य की अपेक्षा सजातीयता होनेसे व चित् व अचित्में व ईश्वरमें भी सत्तात्मकताकी अपेक्षा सजातीयता होनेसे परस्पर भेदग्रहण नहीं होता। भेदग्रहण न होनेके कारण अनेक हैं— १–अत्यन्त दूर होना, २–अत्यन्त समीप होना, ३– इन्द्रिय नष्ट होना। ४– मनकी अनवस्था होना, ५–अत्यन्त सूक्ष्म होना, ६–व्यवधान होना, ७–प्रबल वस्तुसे पराभव होना, ८–सजातीय वस्तुमें मिल जाना। जैसे—अत्यन्त दूर होनेसे पर्वत व शिखरवर्ती वृक्षादिका यथावत् पृथक् ग्रहण नहीं होता, अत्यन्त समीप होनेसे नेत्रमें लगे अञ्जनका यथावत् ग्रहण नहीं होता, इन्द्रियघात बिजली आदिका यथावत् ग्रहण नहीं होता; काम, क्रोधादिवश विषयान्तरासक्त अनवस्थितचित्तमें पदार्थका ग्रहण नहीं होता, अतिसूक्ष्म होनेसे परमाणुका ग्रहण नहीं होता, व्यवधान होनेसे घरके भीतरकी वस्तुका ग्रहण नहीं होता, प्रबल वस्तुसे पराभूत होनेसे अधिक तेजस्वी दीप्तिके आगे दीपप्रभाका ग्रहण नहीं होता व सजातीय वस्तुमें सम्मिलित होनेसे दूधमें जल व दूधके यथार्थस्वरूपका ग्रहण नहीं होता अथवा भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण नहीं होता। वर्तमान प्रकरणकी भी यही बात है कि ईश्वर या ब्रह्म व चित्में सजातीयता होनेके कारण भिन्न-भिन्न ग्रहण नहीं होता याने अभेदरूपसे ग्रहण होता है। इस दर्शनमें द्वैत भ्रममात्र नहीं माना गया है, क्योंकि द्वैत भी परमेश्वर द्वारा ज्ञात है व रक्षित है। यदि द्वैत भ्रान्त होता तो सर्वज्ञ क्यों जानते ? सर्वज्ञके ज्ञानमें भ्रान्ति

(चेतन द्रव्य) के विवर्त हैं, अतः जीव ब्रह्मके शरीर हैं। यह जीव जब अपने स्रोत चैतन्य (ब्रह्म) स्वरूपको नहीं देखता है तब बाह्य तत्त्वोंमें उपयुक्त रहनेसे भटकते और क्लेश पाते रहते हैं। जब जीव अपने स्रोत ब्रह्मस्वरूप (चैतन्यभाव) में उपयुक्त होते हैं तब सर्व कर्म क्लेशोंसे विमुक्त हो जाते हैं। ये मुक्तात्मा ब्रह्मस्वभावके अनुरूप विकसित हो जानेसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निष्कलङ्क, अविकार व अनन्तानन्दमय हो जाते हैं, परन्तु मुक्तात्मा भी एक शुद्ध पर्याय है। पर्याय पर्यायका सृष्टिकर्ता नहीं होता है क्योंकि पर्याय स्वयं सृष्टि है। अतः मुक्तात्मा सृष्टिकर्ता नहीं होते, ब्रह्म ही (चेतन द्रव्य ही) सृष्टिकर्ता है। सर्वचेतनोंका स्वरूप एक है, अतः स्वरूपाभेदसे ब्रह्म एक है।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें अभिमत है कि जीव परमात्मासे भिन्न है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक ही वृक्षरूपी शरीरमें रहते हैं। उनमेंसे एक (जीव) कर्मके फलको भोगता है और परमात्मा स्वकर्मके फलको न भोगता हुआ जीवको भोगाकर अत्यन्त प्रकाशित होता है। (यह सब सामान्यविशेषात्मकताकी दृष्टिसे देखनेपर एक चेतनद्रव्यमें घटित हो जाता है। ब्रह्म परमार्थदृष्टिका विषय है व जीव व्यवहारदृष्टिका विषय है। अतः ब्रह्म भोक्ता नहीं है, जीव भोक्ता है)।

समस्त चित् व अचित् पदार्थ भिन्न-भिन्न सत्तात्मक हैं। ईश्वर व चित्में चैतन्य की अपेक्षा सजातीयता होनेसे व चित् व अचित्में व ईश्वरमें भी सत्तात्मकताकी अपेक्षा सजातीयता होनेसे परस्पर भेदग्रहण नहीं होता। भेदग्रहण न होनेके कारण अनेक हैं—१—अत्यन्त दूर होना, २—अत्यन्त समीप होना, ३— इन्द्रिय नष्ट होना। ४— मनकी अनवस्था होना, ५—अत्यन्त सूक्ष्म होना, ६—व्यवघात होना, ७—प्रबल वस्तुसे पराभव होना, ८—सजातीय वस्तुमें मिल जाना। जैसे—अत्यन्त दूर होनेसे पर्वत व शिखरवर्ती वृक्षादिका यथावत् पृथक् ग्रहण नहीं होता, अत्यन्त समीप होनेसे नेत्रमें लगे अञ्जनका यथावत् ग्रहण नहीं होता, इन्द्रियघात बिजली आदिका यथावत् ग्रहण नहीं होता; काम, क्रोधादिवश विषयान्तरासक्त अनवस्थितचित्तमें पदार्थका ग्रहण नहीं होता, अतिसूक्ष्म होनेसे परमाणुका ग्रहण नहीं होता, व्यवधान होनेसे घरके भीतरकी वस्तुका ग्रहण नहीं होता, प्रबल वस्तुसे पराभूत होनेसे अधिक तेजस्वी दीप्तिके आगे दीपप्रभाका ग्रहण नहीं होता व सजातीय वस्तुमें सम्मिलित होनेसे दूधमें जल व दूधके यथार्थस्वरूपका ग्रहण नहीं होता अथवा भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण नहीं होता। वर्तमान प्रकरणकी भी यही बात है कि ईश्वर या ब्रह्म व चित्में सजातीयता होनेके कारण भिन्न-भिन्न ग्रहण नहीं होता याने अभेदरूपसे ग्रहण होता है। इस दर्शनमें द्वैत भ्रममात्र नहीं माना गया है, क्योंकि द्वैत भी परमेश्वर द्वारा ज्ञात है व रक्षित है। यदि द्वैत भ्रान्त होता तो सर्वज्ञ क्यों जानते ? सर्वज्ञके ज्ञानमें भ्रान्ति

जो चैतन्यस्वभावमय हो। पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस गन्ध व स्पर्श हो। धर्म-द्रव्य उसे कहते हैं जो जीव व पुद्गलोंके चलनेमें निमित्तकारण हो। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो चलते हुए जीव, पुद्गलोंके ठहरनेमें निमित्तकारण हो। आकाशद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेमें कारण हो। कालद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तकारण हो।

प्रत्येक द्रव्य गुणकर्मसामान्यविशेषात्मक होता है। द्रव्यकी शक्तियोंको गुण कहते हैं। शक्तियोंके परिणमनको कर्म कहते हैं। अभेददृष्टिसे देखे गये द्रव्यस्वरूपको सामान्य कहते हैं। भेददृष्टिसे देखे गये द्रव्यकी विशेषताओंको विशेष कहते हैं। द्रव्यके गुण द्रव्यमें शाश्वत तन्मयतासे रहते हैं। द्रव्यके कर्म क्रियाके समयमें (वर्तमानमात्र) द्रव्यमें तन्मय हैं। द्रव्यका सामान्य द्रव्यमें तन्मय है। द्रव्यके भेदात्मक विशेष द्रव्यमें तन्मय हैं और द्रव्यके पर्यायात्मक विशेष द्रव्यमें पर्यायके समय तन्मय हैं। इसी तन्मयतामें सम्वन्धका अपर नाम समवाय भी कहा जाता है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्त याने त्रिकाल अभाव है। एक द्रव्यकी किसी पर्यायमें उस ही द्रव्यकी अन्य पर्यायोंका अन्योन्य अभाव है याने वे अन्य पर्यायें उस द्रव्यमें हो तो जावेंगी, किन्तु एक पर्यायके समयमें अन्य पर्यायोंका अभाव है। अगली पर्यायका प्राक् अभाव पहिली पर्यायमें है। पहिली पर्यायका प्रध्वंस-अभाव अगली पर्यायमें है। अभाव कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, किन्तु अन्यका अभाव या तो अन्य द्रव्यरूप है या अन्य पर्यायरूप है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अभाव है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि एक द्रव्यका गुण अथवा पर्याय आदि अन्य द्रव्यमें कभी नहीं हो सकता। अतः इसमें कोई संदेहकी वात नहीं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं करता और न दूसरे द्रव्य को भोगता।

अव मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोंपर आयें। मुक्ति जीवको चाहिये। इस मुक्तिका जो वाधक निमित्त है वह है कर्म। यह कर्म अजीव है। इस तरह जीव व अजीव (कर्म) के संयोग वियोगादिके स्वरूप व उपाय ही मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्व होते हैं। ये तत्त्व ७ हैं— (१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) वन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष। इन तत्त्वोंको ३ प्रकारसे देखा जाता है—एक तो सिर्फ जीव जीवमें, दूसरे सिर्फ अजीवमें, तीसरे जीव अजीवकी परस्पर सापेक्षतामें। १—जैसे आस्रवको देखें—आस्रव आनेको कहते हैं—जीवमें अजीवका आना आस्रव है (तीसरी पद्धतिसे)। कर्ममें अन्य नवीन कर्मोंका आना आस्रव है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्य भूमिकामें शुभाशुभ परिणामका आना आस्रव है (पहिली पद्धतिसे)। २—वन्ध तत्त्वको देखें—जीवमें अजीवका वंध जाना वन्ध है (तीसरी पद्धतिसे)। अजीव (कर्म) में नवीन कर्मोंका वंध जाना वन्ध है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्य

जो चैतन्यस्वभावमय हो। पुद्‌गल उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस गन्ध व स्पर्श हो। धर्म-द्रव्य उसे कहते हैं जो जीव व पुद्‌गलोंके चलनेमें निमित्तकारण हो। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो चलते हुए जीव, पुद्‌गलोंके ठहरनेमें निमित्तकारण हो। आकाशद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेमें कारण हो। कालद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तकारण हो।

प्रत्येक द्रव्य गुणकर्मसामान्यविशेषात्मक होता है। द्रव्यकी शक्तियोंको गुण कहते हैं। शक्तियोंके परिणमनको कर्म कहते हैं। अभेददृष्टिसे देखे गये द्रव्यस्वरूपको सामान्य कहते हैं। भेददृष्टिसे देखे गये द्रव्यकी विशेषताओंको विशेष कहते हैं। द्रव्यके गुण द्रव्यमें शाश्वत तन्मयतासे रहते हैं। द्रव्यके कर्म क्रियाके समयमें (वर्तमानमात्र) द्रव्यमें तन्मय हैं। द्रव्यका सामान्य द्रव्यमें तन्मय है। द्रव्यके भेदात्मक विशेष द्रव्यमें तन्मय हैं और द्रव्यके पर्यायात्मक विशेष द्रव्यमें पर्यायके समय तन्मय हैं। इसी तन्मयतामें सम्बन्धका अपर नाम समवाय भी कहा जाता है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्त याने त्रिकाल अभाव है। एक द्रव्यकी किसी पर्यायमें उस ही द्रव्यकी अन्य पर्यायोंका अन्योन्य अभाव है याने वे अन्य पर्यायें उस द्रव्यमें हो तो जावेंगी, किन्तु एक पर्यायके समयमें अन्य पर्यायोंका अभाव है। अगली पर्यायका प्राक् अभाव पहिली पर्यायमें है। पहिली पर्यायका प्रध्वंस-अभाव अगली पर्यायमें है। अभाव कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, किन्तु अन्यका अभाव या तो अन्य द्रव्यरूप है या अन्य पर्यायरूप है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अभाव है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि एक द्रव्यका गुण अथवा पर्याय आदि अन्य द्रव्यमें कभी नहीं हो सकता। अतः इसमें कोई संदेहकी वात नहीं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं करता और न दूसरे द्रव्य को भोगता।

अव मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोंपर आयें। मुक्ति जीवको चाहिये। इस मुक्तिका जो वाधक निमित्त है वह है कर्म। यह कर्म अजीव है। इस तरह जीव व अजीव (कर्म) के संयोग वियोगादिके स्वरूप व उपाय ही मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्व होते हैं। ये तत्त्व ७ हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) वन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष। इन तत्त्वोंको ३ प्रकारसे देखा जाता है—एक तो सिर्फ जीव जीवमें, दूसरे सिर्फ अजीवमें, तीसरे जीव अजीवकी परस्पर सापेक्षतामें। १–जैसे आस्रवको देखें—आस्रव आनेको कहते हैं—जीवमें अजीवका आना आस्रव है (तीसरी पद्धतिसे)। कर्ममें अन्य नवीन कर्मोंका आना आस्रव है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्य भूमिकामें शुभाशुभ परिणामका आना आस्रव है (पहिली पद्धतिसे)। २–वन्ध तत्त्वको देखें—जीवमें अजीवका वंध जाना वन्ध है (तीसरी पद्धतिसे)। अजीव (कर्म) में नवीन कर्मोंका वंध जाना वन्ध है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्य

द्वेषके प्रेरक शास्त्रोंकी ओर आकर्षित न होकर अमुग्ध दृष्टि रखना सो अमूढ़दृष्टि अंग है। [५] दूसरेके दोष व अपने गुण प्रकाशित न करना सो उपगूहन अंग है। [६] धर्ममार्गसे च्युत होते हुए दूसरेको व स्वयंको धर्ममार्गमें स्थिर कर देना सो स्थितिकारण अंग है। [७] धर्मात्मा जनोंमें व निजधर्ममें निष्कपट वात्सल्य होना सो वात्सल्य अङ्ग है। [८] दूसरोंके वे अपने अज्ञानको नष्ट करके आत्मधर्म की प्रभावना करना सो प्रभावना अङ्ग है।

जो पदार्थ जैसे अवस्थित हैं उन्हें उस प्रकारसे जानना सो सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं जिन उपायोंसे सम्यग्ज्ञानकी उपासना होती है—[१] शब्दशुद्धि, [२] अर्थशुद्धि. [३] उभयशुद्धि, [४] कालशुद्धि, [५] उपधान, [६] अनिह्नव, [७] विनय, [८] बहुमान। १– शब्दोंको शुद्ध पढ़ना, विचारना सो अर्थशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। २– शब्दोंके अर्थ शुद्ध समझना सो अर्थशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ३– शब्द व अर्थ दोनोंको शुद्ध करना सो उभयशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ४– अयोग्य कालों को टालकर योग्य समयमें ज्ञानाभ्यास करना सो कालशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ५– जब तक यह शास्त्र पूरा न पढ़ लूंगा तब तक मेरे ये नियम हैं—ऐसा नियम करना उपधान नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ६– जिन गुरुके निमित्तसे ज्ञानाभ्यास पाया हो, उन गुरुओंका नाम न छिपाना सो अनिह्नव नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ७- ज्ञानोपकारक देव शास्त्र गुरुमें गुणस्मरण कीर्तनरूप विनय होना सो विनय नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ८– ज्ञानोपकारक गुरुजनोंका मन वचन कायसे बहुमान करना, सो बहुमान नामका सम्यग्ज्ञान का अंग है।

ये सम्यग्ज्ञानके अर्जनके उपायभूत अंग हैं। सम्यग्ज्ञान तो निश्चयसे यथार्थ प्रतिभास रूप एक अभेददृष्टिसे सम्यग्ज्ञान ५ प्रकारका है—[१] मतिज्ञान, [२] श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान। इन्द्रिय व मनके निमित्तसे जाननेको मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञानसे जानकर उस सम्बन्धमें अन्य अनेक ज्ञान होनेको श्रुतज्ञान कहते हैं। इन्द्रिय व मनकी सहायताके विना आत्मशक्तिसे रूपी पदार्थोंको जानना अवधिज्ञान है। इन्द्रिय व मनकी सहायताके विना आत्मशक्तिसे मनके भाव व पदार्थ जान लेना मनःपर्ययज्ञान है। अत्यन्त निरपेक्षपनेसे आत्मशक्ति द्वारा त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको एक साथ स्पष्ट जान लेना, सो केवलज्ञान है। केवलज्ञानी जीव सर्वज्ञ, परमात्मा कहलाते हैं।

आत्मस्वरूपमें स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं—सम्यक्चारित्रकी तीव्र प्रगति के साथ साधना करने वाले साधु होते हैं। सम्यक्चारित्रकी साधनामें १३ प्रकार की वृत्तियां होती हैं— [१] अहिंसा महाव्रत, [२] सत्य महाव्रत, [३] अचौर्य महाव्रत, [४] ब्रह्मचर्य महाव्रत, [५] अपरिग्रह महाव्रत, [६] ईर्यासमिति (सूर्यप्रकाशमें अच्छे कार्यके लिये

द्वेषके प्रेरक शास्त्रोंकी ओर आकर्षित न होकर अमुग्ध दृष्टि रखना सो अमूढ़दृष्टि अंग है। [५] दूसरेके दोष व अपने गुण प्रकाशित न करना सो उपगूहन अंग है। [६] धर्ममार्गसे च्युत होते हुए दूसरेको व स्वयंको धर्ममार्गमें स्थिर कर देना सो स्थितिकारण अंग है। [७] धर्मात्मा जनोंमें व निजधर्ममें निष्कपट वात्सल्य होना सो वात्सल्य अङ्ग है। [८] दूसरोंके वे अपने अज्ञानको नष्ट करके आत्मधर्म की प्रभावना करना सो प्रभावना अङ्ग है।

जो पदार्थ जैसे अवस्थित हैं उन्हें उस प्रकारसे जानना सो सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं जिन उपायोंसे सम्यग्ज्ञानकी उपासना होती है—[१] शब्दशुद्धि, [२] अर्थशुद्धि. [३] उभयशुद्धि, [४] कालशुद्धि, [५] उपधान, [६] अनिह्नव, [७] विनय, [८] बहुमान। १- शब्दोंको शुद्ध पढ़ना, विचारना सो अर्थशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग हैं। २- शब्दोंके अर्थ शुद्ध समझना सो अर्थशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ३- शब्द व अर्थ दोनोंको शुद्ध करना सो उभयशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ४- अयोग्य कालों को टालकर योग्य समयमें ज्ञानाभ्यास करना सो कालशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ५- जब तक यह शास्त्र पूरा न पढ़ लूंगा तब तक मेरे ये नियम हैं—ऐसा नियम करना उपधान नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ६- जिन गुरुके निमित्तसे ज्ञानाभ्यास पाया हो, उन गुरुओंका नाम न छिपाना सो अनिह्नव नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ७- ज्ञानोपकारक देव शास्त्र गुरुमें गुणस्मरण कीर्तनरूप विनय होना सो विनय नामका सम्यग्ज्ञानका अंग है। ८- ज्ञानोपकारक गुरुजनोंका मन वचन कायसे बहुमान करना, सो बहुमान नामका सम्यग्ज्ञान का अंग है।

ये सम्यग्ज्ञानके अर्जनके उपायभूत अंग हैं। सम्यग्ज्ञान तो निश्चयसे यथार्थ प्रतिभास रूप एक अभेददृष्टिसे सम्यग्ज्ञान ५ प्रकारका है—[१] मतिज्ञान, [२] श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान। इन्द्रिय व मनके निमित्तसे जाननेको मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञानसे जानकर उस सम्बन्धमें अन्य अनेक ज्ञान होनेको श्रुतज्ञान कहते हैं। इन्द्रिय व मनकी सहायताके विना आत्मशक्तिसे रूपी पदार्थोंको जानना अवधिज्ञान है। इन्द्रिय व मनकी सहायताके विना आत्मशक्तिसे मनके भाव व पदार्थ जान लेना मनःपर्ययज्ञान है। अत्यन्त निरपेक्षपनेसे आत्मशक्ति द्वारा त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको एक साथ स्पष्ट जान लेना, सो केवलज्ञान है। केवलज्ञानी जीव सर्वज्ञ, परमात्मा कहलाते हैं।

आत्मस्वरूपमें स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं—सम्यक्चारित्रकी तीव्र प्रगति के साथ साधना करने वाले साधु होते हैं। सम्यक्चारित्रकी साधनामें १३ प्रकार की वृत्तियां होती हैं— [१] अहिंसा महाव्रत, [२] सत्य महाव्रत, [३] अचौर्य महाव्रत, [४] ब्रह्मचर्य महाव्रत, [५] अपरिग्रह महाव्रत, [६] ईर्यासमिति (सूर्यप्रकाशमें अच्छे कार्यके लिये

[illegible]) स्वरूप बतानेको कहते हैं अर्थात् जो अपेक्षासे अनेक धर्मोंका कथन करना स्याद्वाद । जैसे एक पुरुषको कहना कि यह अमुकका पिता है, अमुकका पुत्र है, अमुकका मामा है, [अ]मुकका भानजा है आदि । इसी तरह प्रकरणमें लगाना कि जैसे द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य , पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनित्य है आदि बताना स्याद्वाद है । स्याद्वादमें संशय नहीं है, [कि]न्तु पूर्ण निश्चय है । जैसे द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनित्य ही [है] आदि । अनेकान्त व स्याद्वादमें यह अन्तर है कि अनेकान्त तो वस्तुका स्वरूप है और [स्]याद्वाद उसके बतानेका उपाय है।

वस्तुका स्वरूप उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता है । प्रत्येक वस्तु सत् है । वे अपनी-अपनी [न]वीन-नवीन पर्यायोंरूपमें उत्पन्न होते हैं व पूर्व-पूर्व पर्यायोंरूपमें विलीन होते हैं व पूर्वोत्तर [स]भी पर्यायोंके आधाररूपमें वे सतत बने रहते हैं । अपने-अपने पर्यायोंरूपसे वस्तु उत्पन्न होती है । अतः कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुके पर्यायका कर्ता नहीं है और इसी कारण कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुका भोक्ता नहीं है । अगुरुलघुत्व गुणके कारण वस्तुका अपने-अपने गुणोंमें ही परिणमन व द्रव्यत्व गुणके कारण वस्तुका प्रति समय परिणमनशील होना भी वस्तुकी नैसर्गिक विशेषता है ।

जैनदर्शनमें अजीव तत्त्वका भी निरूपण आत्मकल्याणके योग्य दृष्टि बनाने में सहायक साधन है । अजीव तत्त्व ५ हैं— १–पुद्गल, २–धर्मद्रव्य, ३–अधर्मद्रव्य, ४–आकाश, ५–काल पुद्गल एक परमाणु पदार्थ है । दिखनेवाले स्कन्ध इन अनंतानंत पुद्गलोंका पुञ्ज है । वास्तविक पदार्थ इनमें एक एक परमाणु है । पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध व स्पर्श—ये असाधारण गुण हैं । इन गुणोंमेंसे स्पर्श गुणका परिणमन ही परमाणु परमाणुके बन्धका कारण है । जैसे कि परद्रव्योंमें रागद्वेषका स्पर्श जीवके व कर्मके बन्धका कारण है । स्पर्श गुणके ४ परिणमन हैं—१–स्निग्ध, २–रूक्ष, ३–शीत, ४–उष्ण । इनमें स्निग्ध व रूक्ष परिणमन बंधका कारण है । स्निग्ध व रूक्षका जब जघन्य अविभागप्रतिच्छेद १–रूपसे परिणमन हो जाता है तब बंध नहीं हो सकता । जैसेकि रागद्वेषका सर्वजघन्य परिणमन जब योगीके रह जाता है तब तत्कृत कर्मबंध नहीं होता । पुद्गल व जीवके बंधके सम्बन्धमें इतना अंतर है कि पुद्गल स्पर्शपरिणमन रहित कभी रह नहीं सकता, सो उसकी शुद्ध अवस्था जघन्य अविभागप्रतिच्छेदमें है और चूंकि पुद्गलका स्पर्शगुण ही बन्धका कारण है, सो पुनः स्वयं अविभागप्रतिच्छेद बढ़नेपर पुद्गल शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो सकता है, किन्तु जीवका रागद्वेष निज गुण नहीं है सो वह सर्वथा रागद्वेष रहित हो जाता है । इस अवस्थासे कर्मक्षय हो जाता है और परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन आदि विकास हो जाता है, यही जीवकी शुद्ध अवस्था है । अब पुनः अशुद्ध होनेका कोई कारण नहीं होनेसे जीव शुद्ध

[illegible]) स्वरूप बतानेको कहते हैं अर्थात् जो अपेक्षासे अनेक धर्मोंका कथन करना स्याद्वाद [illegible]। जैसे एक पुरुषको कहना कि यह अमुकका पिता है, अमुकका पुत्र है, अमुकका मामा है, [illegible]मुकका भानजा है आदि। इसी तरह प्रकरणमें लगाना कि जैसे द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य [illegible], पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनित्य है आदि बताना स्याद्वाद है। स्याद्वादमें संशय नहीं है, [illegible]न्तु पूर्ण निश्चय है। जैसे द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनित्य ही [illegible] आदि। अनेकान्त व स्याद्वादमें यह अन्तर है कि अनेकान्त तो वस्तुका स्वरूप है और [illegible]याद्वाद उसके बतानेका उपाय है।

वस्तुका स्वरूप उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता है। प्रत्येक वस्तु सत् है। वे अपनी-अपनी [illegible]वीन-नवीन पर्यायोंरूपमें उत्पन्न होते हैं व पूर्व-पूर्व पर्यायोंरूपमें विलीन होते हैं व पूर्वोत्तर [illegible]भी पर्यायोंके आधाररूपमें वे सतत बने रहते हैं। अपने-अपने पर्यायोंरूपसे वस्तु उत्पन्न [illegible]ोती है। अतः कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुके पर्यायका कर्ता नहीं है और इसी कारण कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुका भोक्ता नहीं है। अगुरुलघुत्व गुणके कारण वस्तुका अपने-अपने गुणोंमें ही परिणमन व द्रव्यत्व गुणके कारण वस्तुका प्रति समय परिणमनशील होना भी वस्तुकी नैसर्गिक विशेषता है।

जैनदर्शनमें अजीव तत्त्वका भी निरूपण आत्मकल्याणके योग्य दृष्टि बनाने में सहायक साधन है। अजीव तत्त्व ५ हैं— १–पुद्गल, २–धर्मद्रव्य, ३–अधर्मद्रव्य, ४–आकाश, ५–काल पुद्गल एक परमाणु पदार्थ है। दिखनेवाले स्कन्ध इन अनंतानंत पुद्गलोंका पुञ्ज है। वास्तविक पदार्थ इनमें एक एक परमाणु है। पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध व स्पर्श—ये असाधारण गुण हैं। इन गुणोंमेंसे स्पर्श गुणका परिणमन ही परमाणु परमाणुके बन्धका कारण है। जैसे कि परद्रव्योंमें रागद्वेषका स्पर्श जीवके व कर्मके बन्धका कारण है। स्पर्श गुणके ४ परिणमन हैं—१–स्निग्ध, २–रूक्ष, ३–शीत, ४–उष्ण। इनमें स्निग्ध व रूक्ष परिणमन बंधका कारण है। स्निग्ध व रूक्षका जब जघन्य अविभागप्रतिच्छेद १–रूपसे परिणमन हो जाता है तब बंध नहीं हो सकता। जैसेकि रागद्वेषका सर्वजघन्य परिणमन जब योगीके रह जाता है तब तत्कृत कर्मबंध नहीं होता। पुद्गल व जीवके बंधके सम्बन्धमें इतना अंतर है कि पुद्गल स्पर्शपरिणमन रहित कभी रह नहीं सकता, सो उसकी शुद्ध अवस्था जघन्य अविभागप्रतिच्छेदमें है और चूंकि पुद्गलका स्पर्शगुण ही बन्धका कारण है, सो पुनः स्वयं अविभागप्रतिच्छेद बढ़नेपर पुद्गल शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो सकता है, किन्तु जीवका रागद्वेष निज गुण नहीं है सो वह सर्वथा रागद्वेष रहित हो जाता है। इस अवस्थासे कर्मक्षय हो जाता है और परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन आदि विकास हो जाता है, यही जीवकी शुद्ध अवस्था है। अब पुनः अशुद्ध होनेका कोई कारण नहीं होनेसे जीव शुद्ध

करना, मांस खाना आदि हिंसापरक जैसी वृत्ति हो ही न सके।

जैनोंका आचार व्यवहार अहिंसाके आधारपर तथा वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्माकी भक्तिपर एवं निस्तरङ्ग चिद्ब्रह्मकी उपासनापर आधारित है। जैनोंके सिद्धान्तमें गुरु निष्परिग्रह होते हैं। कुछ गुरुजनोंने परिग्रह रखना चाहा तो निष्परिग्रहकी व्याख्या आदिमें भेद डाला और इसके अनुकूल भगवान् और शास्त्रोंमें भी कुछ व्याख्याभेद किया और कुछ गुरुजन निष्परिग्रहके सिद्धान्तपर अडिग रहे। इन कारणोंसे जैनोंमें कितने ही सम्प्रदाय और हो गये। आजकल जैनोंमें सम्प्रदाय इतने हैं—दिगम्बर, मूर्तिपूजक, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथीश्वेताम्बर, तारणपंथीदिगम्बर। इन सभी सम्प्रदायोंका मूल उद्देश्य अहिंसा पालन है। अहिंसापालन पर कौन कितना चल पाता है? इसमें अवश्य अन्तर है। सभी जैनोंमें, मांस न खाना, रात्रि भोजन न करना, जल छान कर पीना, मदिरा पान न करना, शिकार न खेलना आदि अहिंसापरक व्यवहार कौलिक पद्धति व धर्मपद्धतिसे चलता है। जैनजन "मांसमें सतत सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न होते रहना" समझते हैं।

बौद्धोंका आचार व्यवहार भी अहिंसा और बुद्धकी भक्तिके आधारपर है, किन्तु बौद्ध मरे हुए प्राणीके मांसमें हिंसा नहीं समझते या समझते हों तो अशक्ति है, वे मृतमांसभक्षण को हिंसापरक नहीं समझते। हाँ यह अवश्य माना है कि प्राणीका घात नहीं करते हैं। "मांसमें सतत जीव उत्पन्न होते रहते हैं" इस पर संभव है कोई ख्याल ही नहीं गया हो। सेवा, परोपकारमें ये अपना जीवन लगाते हैं। बौद्धोंमें अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार व माध्यामिक— ये चार प्रसिद्ध हैं। सौत्रान्तिक व वैभाषिकको हीनयान कहा जाता है तथा योगाचार व माध्यमिकको महायान कहा जाता है। ये भेद दर्शनसम्बन्धी मतभेदके कारण हो गये हैं।

वैष्णवोंका आचार व्यवहार ईश्वरभक्तिके आधार पर है। इनमें अनेक सम्प्रदाय हैं—रामभक्त, कृष्णभक्त, याज्ञिक आदि। प्राय: इनका विश्वास है कि इस जगत्को ईश्वर अपनी इच्छानुसार बनाता है और मिटाता है। इन सम्प्रदायोंमें कहीं तो अहिंसाको आश्रय दिया है और रात्रिको भोजन करना, अनछना जल पीना तक भी निषिद्ध किया है तो कहीं धर्मके नामपर जीवित पशु अग्निमें होम देना भी विहित किया है, किन्तु हिंसापरक वाक्योंके भी अर्थ दो दो प्रकारसे लगाये जा सकते हैं—एकसे हिंसाको प्रश्रय मिलता, दूसरे अर्थसे हिंसाको प्रश्रय न मिलकर अध्यात्मवादको प्रश्रय मिलता है। इनके सिद्धान्तसे समय समयपर ईश्वर अवतार लेता है और किसी न किसी पद्धतिमें धर्ममार्गको बताता है। अवतारोंमें अनेक तो पशुवों तकके नामके हैं और श्री ऋषभ, राम, कृष्ण, बुद्ध आदिके नामके भी हैं।

करना, मांस खाना आदि हिंसापरक जैसी वृत्ति हो ही न सके।

जैनोंका आचार व्यवहार अहिंसाके आधारपर तथा वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्माकी भक्तिपर एवं निस्तरङ्ग चिद्ब्रह्मकी उपासनापर आधारित है। जैनोंके सिद्धान्तमें गुरु निष्परिग्रह होते हैं। कुछ गुरुजनोंने परिग्रह रखना चाहा तो निष्परिग्रहकी व्याख्या आदिमें भेद डाला और इसके अनुकूल भगवान् और शास्त्रोंमें भी कुछ व्याख्याभेद किया और कुछ गुरुजन निष्परिग्रहके सिद्धान्तपर अडिग रहे। इन कारणोंसे जैनोंमें कितने ही सम्प्रदाय और हो गये। आजकल जैनोंमें सम्प्रदाय इतने हैं--दिगम्बर, मूर्तिपूजक, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथीश्वेताम्बर, तारणपंथीदिगम्बर। इन सभी सम्प्रदायोंका मूल उद्देश्य अहिंसा पालन है। अहिंसापालन पर कौन कितना चल पाता है? इसमें अवश्य अन्तर है। सभी जैनोंमें, मांस न खाना, रात्रि भोजन न करना, जल छान कर पीना, मदिरा पान न करना, शिकार न खेलना आदि अहिंसापरक व्यवहार कौलिक पद्धति व धर्मपद्धतिसे चलता है। जैनजन "मांसमें सतत सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न होते रहना" समझते हैं।

बौद्धोंका आचार व्यवहार भी अहिंसा और बुद्धकी भक्तिके आधारपर है, किन्तु बौद्ध मरे हुए प्राणीके मांसमें हिंसा नहीं समझते या समझते हों तो अशक्ति है, वे मृतमांसभक्षण को हिंसापरक नहीं समझते। हाँ यह अवश्य माना है कि प्राणीका घात नहीं करते हैं। "मांसमें सतत जीव उत्पन्न होते रहते हैं" इस पर संभव है कोई ख्याल ही नहीं गया हो। सेवा, परोपकारमें ये अपना जीवन लगाते हैं। बौद्धोंमें अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार व माध्यामिक— ये चार प्रसिद्ध हैं। सौत्रान्तिक व वैभाषिकको हीनयान कहा जाता है तथा योगाचार व माध्यमिकको महायान कहा जाता है। ये भेद दर्शनसम्बन्धी मतभेदके कारण हो गये हैं।

वैष्णवोंका आचार व्यवहार ईश्वरभक्तिके आधार पर है। इनमें अनेक सम्प्रदाय हैं—रामभक्त, कृष्णभक्त, याज्ञिक आदि। प्रायः इनका विश्वास है कि इस जगत्को ईश्वर अपनी इच्छानुसार बनाता है और मिटाता है। इन सम्प्रदायोंमें कहीं तो अहिंसाको आश्रय दिया है और रात्रिको भोजन करना, अनछना जल पीना तक भी निषिद्ध किया है तो कहीं धर्मके नामपर जीवित पशु अग्निमें होम देना भी विहित किया है, किन्तु हिंसापरक वाक्योंके भी अर्थ दो दो प्रकारसे लगाये जा सकते हैं—एकसे हिंसाको प्रश्रय मिलता, दूसरे अर्थसे हिंसाको प्रश्रय न मिलकर अध्यात्मवादको प्रश्रय मिलता है। इनके सिद्धान्तसे समय समयपर ईश्वर अवतार लेता है और किसी न किसी पद्धतिमें धर्ममार्गको बताता है। अवतारोंमें अनेक तो पशुवों तकके नामके हैं और श्री ऋषभ, राम, कृष्ण, बुद्ध आदिके नामके भी हैं।

हुई। इनमें भी मतभेद चलते रहे, जिससे सिया सुन्नी आदि सम्प्रदाय हो गये।

पारसी जन अग्निके उपासक होते हैं। यह अग्नि ब्रह्मतेजका प्रतीक है। पारसी शब्दको संस्कृतमें पार्श्वी कह सकते हैं—जो पार्श्व अर्थात् समीपस्थ परमात्मतत्त्वको माने सो पार्श्वी है। यह आत्मा स्वभावदृष्टिसे देखा गया ही कारणपरमात्मतत्त्व है।

राधावल्लभ—इस सम्प्रदायके भक्तजन प्रीतिरसकी प्रमुखता करके श्रीकृष्णजीके उपासक हैं। कोई कोई भक्त पुरुष तो राधाजी का रूपक रखकर उपासना व प्रीतियाचन करते हैं।

कबीरपंथी— यह एक आध्यात्मिक तत्त्व की प्रमुखतासे जीवन बितानेका भाव रखने वालोंका नवीन सम्प्रदाय है। स्कूल शिक्षाओं द्वारा, जो कि साधारण लोकजनोंको भी सुगम हो, मानस उच्च करना इनका ध्येय है।

सराक— यह श्रावक शब्दका अपभ्रंश है। ये प्राचीन कालसे जैन चले आते थे, परन्तु वातावरण इस योग्य न रहनेसे व उपदेश कम हो जानेसे जीवनमें साधारणता आ गई है। पारसनाथकी उपासना करना, रात्रिको न खाना इत्यादि चिह्न अब भी सराक भाइयोंमें उपलब्ध होते हैं।

शाक्त— जो शक्तिकी उपासना करते हैं वे शाक्त कहलाते हैं। ये देवी, देवताओं की शक्तिस्वरूपमें उपासना करते हैं। आचार व्यवहार सब प्रायः अन्य उपासकोंसे मिलते जुलते हैं।

आत्मस्वरूप

आत्मा शब्दका अर्थ है– 'अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा' जो निरंतर जाननेका कार्य करे सो आत्मा है। प्रत्येक आत्मा निरन्तर जानता ही रहता है, चाहे वह कभी क्रोधावेशमें हो, चाहे मानावेशमें हो, चाहे मायाच्छन्न हो, चाहे तृष्णाग्रस्त हो, चाहे समाधिरत हो, चाहे शांत हो, चाहे अनन्तानन्तदमय हो जानते रहते हैं प्रति समयमें। इसका प्रबल प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण यही है कि यदि ये क्रोध, मान आदिके समयमें जानते न होते क्रोध मान आदिका अनुभव या उत्पाद हो ही नहीं सकता था। इससे यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मा निरन्तर जानते रहते ही हैं। अतएव आत्माका स्वरूप ज्ञानमय है। जाननेके परिणमनमें आकुलता नहीं होती है, क्योंकि जानना औपाधिक भाव नहीं हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहके परिणाममें आकुलता है, क्योंकि एक तो क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, दूसरे स्वभावविकासके विपरीत परिणमन है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान आत्मा का स्वरूप है वैसे ही अनाकुलता अथवा आनन्द भी आत्माका स्वरूप है। इस प्रकार मुख्यतया आत्माका लक्षण ज्ञान और आनन्द है। शुद्ध ज्ञानको चित् भी कहते हैं। इस तरह

हुई। इनमें भी मतभेद चलते रहे, जिससे सिया सुन्नी आदि सम्प्रदाय हो गये।

पारसी जन अग्निके उपासक होते हैं। यह अग्नि ब्रह्मतेजका प्रतीक है। पारसी शब्दको संस्कृतमें पार्श्वी कह सकते हैं—जो पार्श्व अर्थात् समीपस्थ परमात्मतत्त्वको माने सो पार्श्वी है। यह आत्मा स्वभावदृष्टिसे देखा गया ही कारणपरमात्मतत्त्व है।

राधावल्लभ—इस सम्प्रदायके भक्तजन प्रीतिरसकी प्रमुखता करके श्रीकृष्णजीके उपासक हैं। कोई कोई भक्त पुरुष तो राधाजी का रूपक रखकर उपासना व प्रीतियाचन करते हैं।

कबीरपंथी– यह एक आध्यात्मिक तत्त्व की प्रमुखतासे जीवन बितानेका भाव रखने वालोंका नवीन सम्प्रदाय है। स्कूल शिक्षाओं द्वारा, जो कि साधारण लोकजनोंको भी सुगम हो, मानस उच्च करना इनका ध्येय है।

सराक– यह श्रावक शब्दका अपभ्रंश है। ये प्राचीन कालसे जैन चले आते थे, परन्तु वातावरण इस योग्य न रहनेसे व उपदेश कम हो जानेसे जीवनमें साधारणता आ गई है। पारसनाथकी उपासना करना, रात्रिको न खाना इत्यादि चिह्न अब भी सराक भाइयोंमें उपलब्ध होते हैं।

शाक्त– जो शक्तिकी उपासना करते हैं वे शाक्त कहलाते हैं। ये देवी, देवताओं की शक्तिस्वरूपमें उपासना करते हैं। आचार व्यवहार सब प्रायः अन्य उपासकोंसे मिलते जुलते हैं।

———

आत्मस्वरूप

आत्मा शब्दका अर्थ है– 'अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा' जो निरंतर जाननेका कार्य करे सो आत्मा है। प्रत्येक आत्मा निरन्तर जानता ही रहता है, चाहे वह कभी क्रोधावेशमें हो, चाहे मानावेशमें हो, चाहे मायाच्छन्न हो, चाहे तृष्णाग्रस्त हो, चाहे समाधिरत हो, चाहे शांत हो, चाहे अनन्तानन्तदमय हो जानते रहते हैं प्रति समयमें। इसका प्रबल प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण यही है कि यदि ये क्रोध, मान आदिके समयमें जानते न होते क्रोध मान आदिका अनुभव या उत्पाद हो ही नहीं सकता था। इससे यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मा निरन्तर जानते रहते ही हैं। अतएव आत्माका स्वरूप ज्ञानमय है। जाननेके परिणमनमें आकुलता नहीं होती है, क्योंकि जानना औपाधिक भाव नहीं हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहके परिणाममें आकुलता है, क्योंकि एक तो क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, दूसरे स्वभावविकासके विपरीत परिणमन है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान आत्मा का स्वरूप है वैसे ही अनाकुलता अथवा आनन्द भी आत्माका स्वरूप है। इस प्रकार मुख्यतया आत्माका लक्षण ज्ञान और आनन्द है। शुद्ध ज्ञानको चित् भी कहते हैं। इस तरह

माया, पर्याय, विवर्त आदि कहते हैं यह स्वयं सृष्टिभूत है। इस तरह ब्रह्म व माया स्वरूप से तो अलग अलग हैं, किन्तु वस्तुमें एक हैं। इस तरह रहस्यका परिचय पा लेने वाला आत्मा अन्तरात्मा, महात्मा, योगी, वर्णी, सम्यग्दृष्टि, विवेकी, मर्मज्ञ, आस्तिक आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है। इस ब्रह्मस्वरूपके परिश्रममें अनुभवमें अलौकिक नैसर्गिक आनन्द प्राप्त होता है, जिस आनन्दके प्राप्त कर लेनेपर इन्द्रियविषयसुख धोखा, असार, माया, अहित, दुःखमय भ्रमकल्पित आदि प्रतीत होने लगते हैं। इस ही सहज आनन्दके बलसे कर्मेन्धन दग्ध हो जाते हैं, विषयकषाय जल जाते है।

आत्मा अनन्त गुण (शक्ति) मय है। एक एक गुणके अनन्तगुणोंके साहचर्यसे अनन्त वर्तमान प्रकार हैं। एक एक प्रकारके अनन्त (तीनों कालकी) पर्यायें हैं। एक एक पर्यायके न्त भाव हैं। एक एक भावमें अनन्त रस हैं। एक एक रसमें अनन्त प्रभाव हैं। इस ार अनन्त विलास (प्रभाव) मय यह आत्मा अनन्त ऐश्वर्यका प्रभु होनेसे ईश्वरस्वरूप कर अनन्त लीलाओंमें विचर रहा है। इस परमपुरुषके साथ अनादिसे अविद्याके कारण तिका बन्धन चल रहा है, जिसके परिणाममें अर्थात् प्रकृतिरूप बहिरंग उपाधि और वेद्यारूप अन्तरंग उपाधिके कारण नाना देहोंके बन्धन बना बनाकर भ्रमण कर रहा है दुःखी हो रहा है। जैसे यद्यपि स्फटिकपाषाण स्वभावतः स्वच्छ है तो भी यदि उसपर ा लाल आदि एक हो तो हरा लाल प्रतिबिम्बरूप हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा स्वभा- : अविकार है तो भी आत्माके साथ उपाधि लगी है सो विकाररूप प्रवर्तमान हो जाता । जैसे डाक हटनेपर स्फटिक पाषाणका विकास स्वच्छ ही रहता है, इसी प्रकार प्रकृति ाधिके हटनेपर आत्माका विकास स्वच्छ अनन्त शुद्ध ज्ञानमय अनन्त सहज आनन्दमय ही ता है।

आत्माके सम्बन्धमें शीघ्र हो सकनेवाली भ्रांति तो यह हो सकती है कि आत्मा कोई तु ही नहीं, शरीर ही दिखता, जब तक शरीरके पेंच पुर्जे दिमाग़ दिल ठीक हैं तब तक से जिन्दा कहा जाता है और जब पेंच पुर्जे ढीले हो जाते हैं और फिर जब तक काम ल्कुल नहीं करते तब उसे मुर्दा कह देते हैं। इस भ्रान्तिके होनेका कारण यह है कि धारण लोकोंमें केवल इन्द्रियजन्य ज्ञानका विश्वास रहता है, परन्तु कुछ विशेष विवेक भेदबुद्धि) से काम लिया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक पदार्थोंकी ही तरह पनी स्वतन्त्रसत्तावाला आत्मा भी है। अचैतन्य व चैतन्य अत्यन्त विरुद्ध धर्म हैं। इनके श्रयभूत पदार्थ भी दो प्रकारके हैं—एक अचेतन, दूसरा चेतन।

चेतनद्रव्यकी समझ अहंप्रत्ययसे हो जाती है। जिसके प्रति अहं (मैं) कहा जाता है ही चेतन (आत्मा) है। यदि शरीर ही जीव हो तो उपयोग अन्यत्र होनेपर शरीरकी चोट

माया, पर्याय, विवर्त आदि कहते हैं यह स्वयं सृष्टिभूत है। इस तरह ब्रह्म व माया स्वरूप से तो अलग अलग हैं, किन्तु वस्तुमें एक हैं। इस तरह रहस्यका परिचय पा लेने वाला आत्मा अन्तरात्मा, महात्मा, योगी, वर्णी, सम्यग्दृष्टि, विवेकी, मर्मज्ञ, आस्तिक आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है। इस ब्रह्मस्वरूपके परिश्रममें अनुभवमें अलौकिक नैसर्गिक आनन्द प्राप्त होता है, जिस आनन्दके प्राप्त कर लेनेपर इन्द्रियविषयसुख धोखा, असार, माया, अहित, दुःखमय भ्रमकल्पित आदि प्रतीत होने लगते हैं। इस ही सहज आनन्दके बलसे कर्मेन्धन दग्ध हो जाते हैं, विषयकषाय जल जाते है।

आत्मा अनन्त गुण (शक्ति) मय है। एक एक गुणके अनन्तगुणोंके साहचर्यसे अनन्त वर्तमान प्रकार हैं। एक एक प्रकारके अनन्त (तीनों कालकी) पर्यायें हैं। एक एक पर्यायके न्त भाव हैं। एक एक भावमें अनन्त रस हैं। एक एक रसमें अनन्त प्रभाव हैं। इस ार अनन्त विलास (प्रभाव) मय यह आत्मा अनन्त ऐश्वर्यका प्रभु होनेसे ईश्वरस्वरूप ार अनन्त लीलाओंमें विचर रहा है। इस परमपुरुषके साथ अनादिसे अविद्याके कारण तिका बन्धन चल रहा है, जिसके परिणाममें अर्थात् प्रकृतिरूप बहिरंग उपाधि और वेद्यारूप अन्तरंग उपाधिके कारण नाना देहोंके बन्धन बना बनाकर भ्रमण कर रहा है दुःखी हो रहा है। जैसे यद्यपि स्फटिकपाषाण स्वभावतः स्वच्छ है तो भी यदि उसपर ा लाल आदि एक हो तो हरा लाल प्रतिबिम्बरूप हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा स्वभा- ः अविकार है तो भी आत्माके साथ उपाधि लगी है सो विकाररूप प्रवर्तमान हो जाता । जैसे डाक हटनेपर स्फटिक पाषाणका विकास स्वच्छ ही रहता है, इसी प्रकार प्रकृति ाधिके हटनेपर आत्माका विकास स्वच्छ अनन्त शुद्ध ज्ञानमय अनन्त सहज आनन्दमय ही ता है।

आत्माके सम्बन्धमें शीघ्र हो सकनेवाली भ्रांति तो यह हो सकती है कि आत्मा कोई तु ही नहीं, शरीर ही दिखता, जब तक शरीरके पेंच पुर्जे दिमाग़ दिल ठीक हैं तब तक े जिन्दा कहा जाता है और जब पेंच पुर्जे ढीले हो जाते हैं और फिर जब तक काम ल्कुल नहीं करते तब उसे मुर्दा कह देते हैं। इस भ्रान्तिके होनेका कारण यह है कि धारण लोकोंमें केवल इन्द्रियजन्य ज्ञानका विश्वास रहता है, परन्तु कुछ विशेष विवेक भेदबुद्धि) से काम लिया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक पदार्थोंकी ही तरह पनी स्वतन्त्रसत्तावाला आत्मा भी है। अचैतन्य व चैतन्य अत्यन्त विरुद्ध धर्म हैं। इनके ाश्रयभूत पदार्थ भी दो प्रकारके हैं—एक अचेतन, दूसरा चेतन।

चेतनद्रव्यकी समझ अहंप्रत्ययसे हो जाती है। जिसके प्रति अहं (मैं) कहा जाता है ाही चेतन (आत्मा) है। यदि शरीर ही जीव हो तो उपयोग अन्यत्र होनेपर शरीरकी चोट

आत्मा रूपरहित है। अतः वह चक्षु इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा रसरहित है, अतः आत्मा रसनाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा गन्धरहित है, अतः आत्मा नासिकाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शब्दरहित है, अतः वह श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शीतादि समस्त स्पर्शोंसे भी रहित है, अतः स्पर्शनइन्द्रियसे भी वह नहीं जाना जा सकता। आत्मा तो मात्र ज्ञानसे ही ग्रहणमें आ सकता है। आत्मा ज्ञान द्वारा ग्रहणमें आ जावे इसका मुख्य साधन निर्विकल्पता है। कोई भी विकल्प न उठे तो आत्मा झटिति अनुभवमें आ जाता है। विकल्प न उठे इसके अर्थ आत्मा व परपदार्थोंके स्वलक्षण स्वलक्षणके परिचयसे भेदविज्ञान करना आवश्यक होता है।

आत्मा समस्त अचेतनपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। अन्य समस्त चेतनपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाहमें रहने वाला तैजस व कार्माण शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। यह तैजस व कार्माण शरीर यद्यपि मरणके वाद अन्य भवमें जाते हुए जीवके साथ साथ ही जाता है तथापि इन अचेतन पदार्थोंका स्वरूप आत्मस्वरूपमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाला यह शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार समस्त अचेतन पदार्थोंसे, अन्य समस्त चेतन पदार्थोंसे, तैजस व कार्माण शरीरसे, इस स्थूल शरीरसे अत्यन्त भिन्न यह आत्मा है।

आत्माके आधारमें होनेवाले बाह्यतत्त्वोंसे भी आत्मा निराला है—रागद्वेषादि विभाव चूंकि औपाधिक भाव हैं अतः इन औपाधिक भावोंसे भी आत्मा निराला है। अपूर्णज्ञान, विचार, वितर्क चूंकि पूर्णस्वरूप नहीं है, अतः आत्मा इनसे भी निराला है। परिपूर्ण ज्ञान आदि परिणमन भी चूंकि सादि है तथा क्षण क्षणके परिणमन हैं, अतः इस परिपूर्ण विकास परिणमनसे भी आत्मा निराला है। इन सबसे निराला एक आत्मा है। इस तरहके विकल्पमें भी आत्मस्वरूप अनुभूत नहीं होता। अतः ऐसा एक भी आत्मा नहीं है, किन्तु समस्त विकल्पजालोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वभावको प्रकट करते हुए अनुभवमें जो अनुभूत होता है वही आत्मा है।

यह आत्मा निश्चयतः शुद्ध है, बुद्ध है, नित्य है, निरञ्जन है, टङ्कोत्कीर्णबिम्बकी तरह निश्चल है, परमात्मा है, परमेश्वर है, ज्ञानमय है, आनंदमय है; सर्वकामनाओंसे रहित है, अविकार है, चैतन्यमात्र है। इसके अनुभवमें जो आनंद है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। आत्मस्वरूप ही परमब्रह्म, ईश्वर, भगवान् आदिके रूपसे ध्याया जाता है। ॐ नमः समयसाराय, ॐ शुद्धं चिदस्मि, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।

आत्मा रूपरहित है। अतः वह चक्षु इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा रसरहित है, अतः आत्मा रसनाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा गन्धरहित है, अतः आत्मा नासिकाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शब्दरहित है, अतः वह श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शीतादि समस्त स्पर्शोंसे भी रहित है, अतः स्पर्शनइन्द्रियसे भी वह नहीं जाना जा सकता। आत्मा तो मात्र ज्ञानसे हो ग्रहणमें आ सकता है। आत्मा ज्ञान द्वारा ग्रहणमें आ जावे इसका मुख्य साधन निर्विकल्पता है। कोई भी विकल्प न उठे तो आत्मा झटिति अनुभवमें आ जाता है। विकल्प न उठे इसके अर्थ आत्मा व परपदार्थोंके स्वलक्षण स्वलक्षणके परिचयसे भेदविज्ञान करना आवश्यक होता है।

आत्मा समस्त अचेतनपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। अन्य समस्त चेतनपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाहमें रहने वाला तैजस व कार्माण शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। यह तैजस व कार्माण शरीर यद्यपि मरणके बाद अन्य भवमें जाते हुए जीवके साथ साथ ही जाता है तथापि इन अचेतन पदार्थोंका स्वरूप आत्मस्वरूपमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाला यह शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार समस्त अचेतन पदार्थोंसे, अन्य समस्त चेतन पदार्थोंसे, तैजस व कार्माण शरीरसे, इस स्थूल शरीरसे अत्यन्त भिन्न यह आत्मा है।

आत्माके आधारमें होनेवाले बाह्यतत्त्वोंसे भी आत्मा निराला है—रागद्वेषादि विभाव चूंकि औपाधिक भाव हैं अतः इन औपाधिक भावोंसे भी आत्मा निराला है। अपूर्णज्ञान, विचार, वितर्क चूंकि पूर्णस्वरूप नहीं है, अतः आत्मा इनसे भी निराला है। परिपूर्ण ज्ञान आदि परिणमन भी चूंकि सादि है तथा क्षण क्षणके परिणमन हैं, अतः इस परिपूर्ण विकास परिणमनसे भी आत्मा निराला है। इन सबसे निराला एक आत्मा है। इस तरहके विकल्पमें भी आत्मस्वरूप अनुभूत नहीं होता। अतः ऐसा एक भी आत्मा नहीं है, किन्तु समस्त विकल्पजालोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वभावको प्रकट करते हुए अनुभवमें जो अनुभूत होता है वही आत्मा है।

यह आत्मा निश्चयतः शुद्ध है, बुद्ध है, नित्य है, निरञ्जन है, टङ्कोत्कीर्णबिम्बकी तरह निश्चल है, परमात्मा है, परमेश्वर है, ज्ञानमय है, आनंदमय है; सर्वकामनाओंसे रहित है, अविकार है, चैतन्यमात्र है। इसके अनुभवमें जो आनंद है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। आत्ममस्वरूप ही परमब्रह्म, ईश्वर, भगवान् आदिके रूपसे ध्याया जाता है। ॐ नमः समयसाराय, ॐ शुद्धं चिदस्मि, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।

वर्गणायें कर्मरूपसे परिणम जाती हैं। जैसे खाये हुए भोजनमें प्रकृति पड़ जाती है कि इतने स्कन्ध हड्डीरूपसे परिणमेगी, इतने खून, विष्टा, मूत्र आदिरूपसे परिणमेगी व इनमें प्रदेश संख्या भी हो जाती है। इतना भोजन इस प्रकृतिरूप होगा, इतना भोजन इस प्रकृति-रूप तथा यह भी विभाग हो जाता है कि हड्डीरूपसे परिणमनेवाला स्कन्ध इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा व खून रूपसे परिणमनेवाला स्कन्ध (भोजनस्कन्ध) इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा, विष्टामूत्र वाला इतने दिनों शरीरमें रहेगा एवं अनुभाग (शक्ति) भी बन जाता है कि हड्डीवाले स्कन्ध इतनी शक्तिका फल देंगे, वीर्यवाला स्कन्ध उससे अधिक शक्तिका फल देंगे इत्यादि। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाते हैं, उनमें तभी प्रकृति बन जाती है ये कर्म ज्ञानके घातका निमित्त होंगे, ये शरीररचनाके कारण होंगे इत्यादि व प्रदेशविभाग भी होता है। इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी, इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी व स्थिति भी पड़ जाती है, अमुक कर्म इतने दिनों आत्माके साथ रहेंगे, अमुक कर्म इतने दिनों साथ रहेंगे व अनुभाग भी पड़ जाता है कि अमुक कर्म इतनी शक्तिका फल देंगे, अमुक कर्म इतनी डिग्री का फल देंगे इत्यादि।

आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्तिका पिण्ड है अर्थात् सत् (शक्ति) चित् (ज्ञान) दर्शन, आनंदमय है। इन गुणोंका शुद्ध विकास संसारी जीवोंमें नहीं पाया जा रहा है। आत्माका स्वभाव है कि सत्यको सत्यरूपसे प्रतीति करे और परकी ओर आकृष्ट न होकर अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित (संयत) रहे, किन्तु संसारी जीवोंके इस स्वभावके भी प्रायः विपरीत परिणमन पाया जा रहा है। आत्मा सूक्ष्म एवं अमूर्त है, किन्तु संसार अवस्था में जीव देहबन्धनबद्ध बन रहा है। आत्मा पूर्ण एवं एकस्वरूप है, किन्तु संसार अवस्थामें उच्च अथवा नीचरूपसे जीव व्यवहृत हो रहे हैं। आत्माका परमैश्वर्य स्वभाव है, किन्तु चारों गतियोंमें संसारी जीव भटक रहा है। इन सब बाधाओंका कारणभूत जो तत्त्व है वह कर्म है।

कर्म निमित्त है, आत्माके रागादि विकार होना नैमित्तिक है। जैसे मदिरापानका निमित्त पाकर मनुष्य मतवाला हो जाता है, इसी प्रकार कर्मके उदयादिको निमित्त पाकर जीव नाना विकारोंरूप, अपूर्ण विकासरूप परिणम रहा है। जैसे स्फटिक तो स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु लाल पीले आदि डाक उपाधिका संयोग पाकर लाल पीला आदि प्रतिबिम्ब रूप परिणम जाता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु कर्म उपाधिका निमित्त पाकर नाना विकाररूप परिणम जाता है। जैसे जल तो स्वच्छ है किंतु कर्दम, शेवाल आदिके संयोगको निमित्त पाकर मलिन प्रतिभास होता है। वैसे आत्मा तो स्वच्छ है किन्तु कर्मउपाधिका निमित्त पाकर आत्मा मलिन प्रतिभास होता है। जैसे सूर्य तो

वर्गणायें कर्मरूपसे परिणम जाती हैं। जैसे खाये हुए भोजनमें प्रकृति पड़ जाती है कि इतने स्कन्ध हड्डीरूपसे परिणमेंगी, इतने खून, विष्टा, मूत्र आदिरूपसे परिणमेंगी व इनमें प्रदेश संख्या भी हो जाती है। इतना भोजन इस प्रकृतिरूप होगा, इतना भोजन इस प्रकृति-रूप तथा यह भी विभाग हो जाता है कि हड्डीरूपसे परिणमनेवाला स्कन्ध इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा व खून रूपसे परिणमनेवाला स्कन्ध (भोजनस्कन्ध) इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा, विष्टामूत्र वाला इतने दिनों शरीरमें रहेगा एवं अनुभाग (शक्ति) भी बन जाता है कि हड्डीवाले स्कन्ध इतनी शक्तिका फल देंगे, वीर्यवाला स्कन्ध उससे अधिक शक्तिका फल देंगे इत्यादि। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाते हैं, उनमें तभी प्रकृति बन जाती है ये कर्म ज्ञानके घातका निमित्त होंगे, ये शरीररचनाके कारण होंगे इत्यादि व प्रदेशविभाग भी होता है। इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी, इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी व स्थिति भी पड़ जाती है, अमुक कर्म इतने दिनों आत्माके साथ रहेंगे, अमुक कर्म इतने दिनों साथ रहेंगे व अनुभाग भी पड़ जाता है कि अमुक कर्म इतनी शक्तिका फल देंगे, अमुक कर्म इतनी डिग्री का फल देंगे इत्यादि।

आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्तिका पिण्ड है अर्थात् सत् (शक्ति) चित् (ज्ञान) दर्शन, आनंदमय है। इन गुणोंका शुद्ध विकास संसारी जीवोंमें नहीं पाया जा रहा है। आत्माका स्वभाव है कि सत्यको सत्यरूपसे प्रतीति करे और परकी ओर आकृष्ट न होकर अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित (संयत) रहे, किन्तु संसारी जीवोंके इस स्वभावके भी प्रायः विपरीत परिणमन पाया जा रहा है। आत्मा सूक्ष्म एवं अमूर्त है, किन्तु संसार अवस्था में जीव देहबन्धनबद्ध बन रहा है। आत्मा पूर्ण एवं एकस्वरूप है, किन्तु संसार अवस्थामें उच्च अथवा नीचरूपसे जीव व्यवहृत हो रहे हैं। आत्माका परमैश्वर्य स्वभाव है, किन्तु चारों गतियोंमें संसारी जीव भटक रहा है। इन सब बाधाओंका कारणभूत जो तत्त्व है वह कर्म है।

कर्म निमित्त है, आत्माके रागादि विकार होना नैमित्तिक है। जैसे मदिरापानका निमित्त पाकर मनुष्य मतवाला हो जाता है, इसी प्रकार कर्मके उदयादिको निमित्त पाकर जीव नाना विकारोंरूप, अपूर्ण विकासरूप परिणम रहा है। जैसे स्फटिक तो स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु लाल पीले आदि डाक उपाधिका संयोग पाकर लाल पीला आदि प्रतिबिम्ब रूप परिणम जाता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु कर्म उपाधिका निमित्त पाकर नाना विकाररूप परिणम जाता है। जैसे जल तो स्वच्छ है किंतु कर्दम, शेवाल आदिके संयोगको निमित्त पाकर मलिन प्रतिभास होता है। वैसे आत्मा तो स्वच्छ है किन्तु कर्मउपाधिका निमित्त पाकर आत्मा मलिन प्रतिभास होता है। जैसे सूर्य तो

हैं ? इसका मुख्य उत्तर तो यह है कि कर्म जीवको फल नहीं देते, किन्तु जीव ही उन उन कर्मोंको निमित्त पाकर वैसे वैसे फल पाता रहता है। कर्म भी क्या है ? पहिले किये गये रागादि करनीके प्रतिरूप, जिससे यह तो निःसंशय सर्वसम्मत है ही कि जीव अपनी करनीका फल पाता रहता है। ये कर्म जीवके साथ कब तक बंधे रहते हैं याने कब तक इनका सत्व रहता है अथवा कर्मोंकी कितनी स्थिति होती है ? इसका विवरण नाना व्यवस्थावोंमें है। ज्ञानावरण कर्मकी, जघन्य स्थिति एक मुहूर्तसे भी बहुत कम है। यह स्थिति उनके ही होती है जो योगी मोहका समूलक्षय करके वीतराग तो हो चुके हैं, किन्तु सर्वज्ञ, परमात्मा नहीं हुए हैं। ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। यह काल असंख्यात युगोंका होता है। यह स्थिति मोही जीवोंके होती है। दर्शनावरणकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति आदि ज्ञानावरणकी तरह है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, यह भी वीतराग योगियोंके होती है। वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोहियोंके होती है। मोहनीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, यह स्थिति वीतराग होनेके निकट सन्मुख हुए योगियोंके होती है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह तीव्रमोहियोंके होती है। आयुकर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति क्षुद्र तिर्यञ्च व क्षुद्र मनुष्योंके ही हो सकती है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की होती है, यह स्थिति भी असंख्यात युगोंकी है और यह स्थिति अधमाधम नारकी या उत्कृष्टोत्कृष्ट देवके होती है। नामकर्मकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति अशरीर (सिद्ध) होनेके सन्मुख हुए सर्वज्ञ परमात्मा (सशरीर परमात्मा) के होती है। नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोही जीवके होती है। गोत्रकर्मकी भी बात नामकर्मकी तरह है। अन्तराय-कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति सर्वज्ञानके सन्मुख हुए वीतराग योगियोंके होती है। अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह स्थिति मोही जीवोंके अन्तरायकर्मकी होती है।

उन सब बद्धकर्मस्कन्धोंमें अनुभागशक्ति भी बन्धके समय ही हो जाती है--अर्थात् वे कर्म उदय व उदीरणाके समय अपनी प्रकृतिरूपसे कितनी डिगरीके फल देनेमें कारण हो सकते हैं ऐसा अनुभागबन्ध हो जाता है। शुभ, अशुभ परिणामोंसे बांधे गये होनेके कारण कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुण्यकर्म, दूसरा पापकर्म। पुण्यकर्ममें अनुभाग ४ प्रकार का होता है—गुड़, खांड, मिश्री व अमृतकी तरह उत्तरोत्तर मधुर अनुभाग। पापकर्ममें भी अनुभाग चार प्रकारका होता है—नीम, कंजी, विष व हालाहलकी तरह कटु अनुभाग। अनुभागकी ये चार चार जातियाँ है, एक एक जातिमें अनेक अनेक प्रकारका अनुभाग होता

हैं ? इसका मुख्य उत्तर तो यह है कि कर्म जीवको फल नहीं देते, किन्तु जीव ही उन उन कर्मोंको निमित्त पाकर वैसे वैसे फल पाता रहता है। कर्म भी क्या है ? पहिले किये गये रागादि करनीके प्रतिरूप, जिससे यह तो निःसंशय सर्वसम्मत है ही कि जीव अपनी करनीका फल पाता रहता है। ये कर्म जीवके साथ कब तक बंधे रहते हैं याने कब तक इनका सत्व रहता है अथवा कर्मोंकी कितनी स्थिति होती है ? इसका विवरण नाना व्यवस्थावोंमें है। ज्ञानावरण कर्मकी, जघन्य स्थिति एक मुहूर्तसे भी बहुत कम है। यह स्थिति उनके ही होती है जो योगी मोहका समूलक्षय करके वीतराग तो हो चुके हैं, किन्तु सर्वज्ञ, परमात्मा नहीं हुए हैं। ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। यह काल असंख्यात युगोंका होता है। यह स्थिति मोही जीवोंके होती है। दर्शनावरणकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति आदि ज्ञानावरणकी तरह है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, यह भी वीतराग योगियोंके होती है। वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोहियोंके होती है। मोहनीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, यह स्थिति वीतराग होनेके निकट सन्मुख हुए योगियोंके होती है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह तीव्रमोहियोंके होती है। आयुकर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति क्षुद्र तिर्यञ्च व क्षुद्र मनुष्योंके ही हो सकती है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की होती है, यह स्थिति भी असंख्यात युगोंकी है और यह स्थिति अधमाधम नारकी या उत्कृष्टोत्कृष्ट देवके होती है। नामकर्मकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति अशरीर (सिद्ध) होनेके सन्मुख हुए सर्वज्ञ परमात्मा (सशरीर परमात्मा) के होती है। नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोही जीवके होती है। गोत्रकर्मकी भी बात नामकर्मकी तरह है। अन्तराय-कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति सर्वज्ञानके सन्मुख हुए वीतराग योगियोंके होती है। अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह स्थिति मोही जीवोंके अन्तरायकर्मकी होती है।

उन सब बद्धकर्मस्कन्धोंमें अनुभागशक्ति भी बन्धके समय ही हो जाती है—अर्थात् वे कर्म उदय व उदीरणाके समय अपनी प्रकृतिरूपसे कितनी डिगरीके फल देनेमें कारण हो सकते हैं ऐसा अनुभागबन्ध हो जाता है। शुभ, अशुभ परिणामोंसे बाँधे गये होनेके कारण कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुण्यकर्म, दूसरा पापकर्म। पुण्यकर्ममें अनुभाग ४ प्रकार का होता है—गुड़, खांड, मिश्री व अमृतकी तरह उत्तरोत्तर मधुर अनुभाग। पापकर्ममें भी अनुभाग चार प्रकारका होता है—नीम, कंजी, विष व हालाहलकी तरह कटु अनुभाग। अनुभागकी ये चार चार जातियाँ है, एक एक जातिमें अनेक अनेक प्रकारका अनुभाग होता

है ? इसका मुख्य उत्तर तो यह है कि कर्म जीवको फल नहीं देते, किन्तु जीव ही उन उन कर्मोंको निमित्त पाकर वैसे वैसे फल पाता रहता है। कर्म भी क्या है ? पहिले किये गये रागादि करनीके प्रतिरूप, जिसमें यह तो निःसंशय सर्वसम्मत है ही कि जीव अपनी करनीका फल पाता रहता है। ये कर्म जीवके साथ कब तक बंधे रहते हैं याने कब तक इनका सत्व रहता है अथवा कर्मोंकी कितनी स्थिति होती है ? इसका विवरण नाना व्यवस्थावोंमें है। ज्ञानावरण कर्मकी, जघन्य स्थिति एक मुहूर्तसे भी बहुत कम है। यह स्थिति उनके ही होती है जो योगी मोहका समूलक्षय करके वीतराग तो हो चुके हैं, किन्तु सर्वज्ञ, परमात्मा नहीं हुए हैं। ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। यह काल असंख्यात युगोंका होता है। यह स्थिति मोही जीवोंके होती है। दर्शनावरणकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति आदि ज्ञानावरणकी तरह है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, यह भी वीतराग योगियोंके होती है। वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोहियोंके होती है। मोहनीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, यह स्थिति वीतराग होनेके निकट सम्मुख हुए योगियोंके होती है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह तीव्रमोहियोंके होती है। आयुकर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति क्षुद्र तिर्यञ्च व क्षुद्र मनुष्योंके ही हो सकती है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की होती है, यह स्थिति भी असंख्यात युगोंकी है और यह स्थिति अधमाधम नारकी या उत्कृष्टोत्कृष्ट देवके होती है। नामकर्मकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति अशरीर (सिद्ध) होनेके सन्मुख हुए सर्वज्ञ परमात्मा (सशरीर परमात्मा) के होती है। नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोही जीवके होती है। गोत्रकर्मकी भी बात नामकर्मकी तरह है। अन्तराय-कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति सर्वज्ञानके सन्मुख हुए वीतराग योगियोंके होती है। अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह स्थिति मोही जीवोंके अन्तरायकर्मकी होती है।

उन सब बद्धकर्मस्कन्धोंमें अनुभागशक्ति भी बन्धके समय ही हो जाती है—अर्थात् वे कर्म उदय व उदीरणाके समय अपनी प्रकृतिरूपसे कितनी डिगरीके फल देनेमें कारण हो सकते हैं ऐसा अनुभागबन्ध हो जाता है। शुभ, अशुभ परिणामोंसे बांधे गये होनेके कारण कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुण्यकर्म, दूसरा पापकर्म। पुण्यकर्ममें अनुभाग ४ प्रकार का होता है—गुड़, खांड, मिश्री व अमृतकी तरह उत्तरोत्तर मधुर अनुभाग। पापकर्ममें भी अनुभाग चार प्रकारका होता है—नीम, कंजी, विष व हालाहलकी तरह कटु अनुभाग। अनुभागकी ये चार चार जातियाँ है, एक एक जातिमें अनेक अनेक प्रकारका अनुभाग होता

है ? इसका मुख्य उत्तर तो यह है कि कर्म जीवको फल नहीं देते, किन्तु जीव ही उन उन कर्मोंको निमित्त पाकर वैसे वैसे फल पाता रहता है। कर्म भी क्या है ? पहिले किये गये रागादि करनीके प्रतिरूप, जिसमें यह तो निःसंशय सर्वसम्मत है ही कि जीव अपनी करनीका फल पाता रहता है। ये कर्म जीवके साथ कब तक बंधे रहते हैं याने कब तक इनका सत्व रहता है अथवा कर्मोंकी कितनी स्थिति होती है ? इसका विवरण नाना व्यवस्थावोंमें है। ज्ञानावरण कर्मकी, जघन्य स्थिति एक मुहूर्तसे भी बहुत कम है। यह स्थिति उनके ही होती है जो योगी मोहका समूलक्षय करके वीतराग तो हो चुके हैं, किन्तु सर्वज्ञ, परमात्मा नहीं हुए हैं। ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। यह काल असंख्यात युगोंका होता है। यह स्थिति मोही जीवोंके होती है। दर्शनावरणकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति आदि ज्ञानावरणकी तरह है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, यह भी वीतराग योगियोंके होती है। वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोहियोंके होती है। मोहनीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, यह स्थिति वीतराग होनेके निकट सन्मुख हुए योगियोंके होती है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह तीव्रमोहियोंके होती है। आयुकर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति क्षुद्र तिर्यञ्च व क्षुद्र मनुष्योंके ही हो सकती है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की होती है, यह स्थिति भी असंख्यात युगोंकी है और यह स्थिति अधमाधम नारकी या उत्कृष्टोत्कृष्ट देवके होती है। नामकर्मकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति अशरीर (सिद्ध) होनेके सन्मुख हुए सर्वज्ञ परमात्मा (सशरीर परमात्मा) के होती है। नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोही जीवके होती है। गोत्रकर्मकी भी बात नामकर्मकी तरह है। अन्तराय-कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति सर्वज्ञानके सन्मुख हुए वीतराग योगियोंके होती है। अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह स्थिति मोही जीवोंके अन्तरायकर्मकी होती है।

उन सब बद्धकर्मस्कन्धोंमें अनुभागशक्ति भी बन्धके समय ही हो जाती है--अर्थात् वे कर्म उदय व उदीरणाके समय अपनी प्रकृतिरूपसे कितनी डिगरीके फल देनेमें कारण हो सकते हैं ऐसा अनुभागबन्ध हो जाता है। शुभ, अशुभ परिणामोंसे बांधे गये होनेके कारण कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुण्यकर्म, दूसरा पापकर्म। पुण्यकर्ममें अनुभाग ४ प्रकार का होता है—गुड़, खांड, मिश्री व अमृतकी तरह उत्तरोत्तर मधुर अनुभाग। पापकर्ममें भी अनुभाग चार प्रकारका होता है—नीम, कंजी, विष व हालाहलकी तरह कटु अनुभाग। अनुभागकी ये चार चार जातियाँ है, एक एक जातिमें अनेक अनेक प्रकारका अनुभाग होता

के विचारोंको और विचारोंमें आये हुए रूपी पदार्थोंको जानना मनःपर्ययज्ञान है और जो मनःपर्ययज्ञानको न होने दे उसे मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं। ५—केवलज्ञानावरण—तीन लोक व तीन कालके सब पदार्थोंको केवल आत्मीय शक्तिसे एक साथ स्पष्ट जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं और जो केवलज्ञान प्रगट न होने दे उसे केवलज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण— उसे कहते हैं जिसके उदयसे आत्माका दर्शनगुण प्रगट न हो। दर्शनावरणसंबंधी ९ प्रकृतियां हैं— (१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानगृद्धि।

१—चक्षुर्दर्शनावरण— चक्षुरिन्द्रियके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उससे पहले होनेवाले सामान्यप्रतिभासको चक्षुर्दर्शन कहते हैं। उसे जो प्रगट न होने दे उसे चक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं। २—अचक्षुर्दर्शनावरण—नेत्रके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके पहले जो सामान्य प्रतिभास है वह अचक्षुर्दर्शनको प्रगट न होने दे, उसे अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं। ३—अवधिदर्शनावरण— अवधिज्ञानके पहले होनेवाले सामान्यप्रतिभासको अवधिदर्शन कहते हैं और जो अवधिदर्शनका आवरण करे, उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। ४—केवलदर्शनावरण—केवलज्ञानके साथ साथ होनेवाले सामान्यप्रतिभासको केवलदर्शन कहते हैं और जो केवल दर्शनको प्रगट न होने दे, उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं। ५—निद्रा (दर्शनावरण कर्म) उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नींद आवे। ६—निद्रानिद्रा उसे कहते हैं—जिसके उदयसे पूरी नींद लेकर भी फिर सो जावे। ७—प्रचला उसे कहते हैं—जिसके उदयमें बैठे बैठे या कोई कार्य करते करते सोता रहे, अर्थात् कुछ सोता रहे, कुछ जागता रहे। ८—प्रचलाप्रचला उसे कहते हैं—जिसके उदयसे सोते हुए मुखसे लार बहने लगे और अंग उपांग भी चलते रहें। ९—स्त्यानगृद्धि उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नींदमें ही अपनी शक्तिसे बाहर कोई काम करले और जगनेपर मालूम भी न हो कि मैंने क्या किया ? वेदनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके विषयका अनुभव हो। इससे जीव सुख या दुखका वेदन करता है। वेदनीयकर्मके २ भेद हैं— (१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। १—सातावेदनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे इन्द्रियसुखरूप अनुभव हो। २—असातावेदनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे दुःखरूप अनुभव हो।

मोहनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे मोह, राग और द्वेष उत्पन्न हो। इसके मूल २ भेद हैं—[१] दर्शनमोहनीय, [२] चारित्रमोहनीय। १—दर्शनमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका घात हो। चारित्रमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके चारित्र गुणका घात हो।

के विचारोंको और विचारोंमें आये हुए रूपी पदार्थोंको जानना मनःपर्ययज्ञान है और जो मनःपर्ययज्ञानको न होने दे उसे मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं। ५-केवलज्ञानावरण—तीन लोक व तीन कालके सब पदार्थोंको केवल आत्मीय शक्तिसे एक साथ स्पष्ट जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं और जो केवलज्ञान प्रगट न होने दे उसे केवलज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण— उसे कहते हैं जिसके उदयसे आत्माका दर्शनगुण प्रगट न हो। दर्शनावरणसंबंधी ९ प्रकृतियां हैं— (१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानगृद्धि।

१-चक्षुर्दर्शनावरण— चक्षुरिन्द्रियके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उससे पहले होने वाले सामान्यप्रतिभासको चक्षुर्दर्शन कहते हैं। उसे जो प्रगट न होने दे उसे चक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं। २-अचक्षुर्दर्शनावरण—नेत्रके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होने वाले ज्ञानके पहले जो सामान्य प्रतिभास है वह अचक्षुर्दर्शनको प्रगट न होने दे, उसे अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं। ३-अवधिदर्शनावरण- अवधिज्ञानसे पहले होनेवाले सामान्यप्रतिभास को अवधिदर्शन कहते हैं और जो अवधिदर्शनका आवरण करे, उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। ४-केवलदर्शनावरण—केवलज्ञानके साथ साथ होनेवाले सामान्यप्रतिभासको केवलदर्शन कहते हैं और जो केवल दर्शनको प्रगट न होने दे, उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं। ५-निद्रा (दर्शनावरण कर्म) उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नींद आवे। ६-निद्रानिद्रा उसे कहते हैं—जिसके उदयसे पूरी नींद लेकर भी फिर सो जावे। ७-प्रचला उसे कहते हैं—जिसके उदयसे बैठे बैठे या कोई कार्य करते करते सोता रहे, अर्थात् कुछ सोता रहे, कुछ जागता रहे। ८-प्रचलाप्रचला उसे कहते हैं-जिसके उदयसे सोते हुए मुखसे लार बहने लगे और अंग उपांग भी चलते रहें। ९-स्त्यानगृद्धि उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नींदमें ही अपनी शक्तिसे बाहर कोई काम करले और जगनेपर मालूम भी न हो कि मैंने क्या किया?
वेदनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके विषयका अनुभव हो। इससे जीव सुख या दुःखका वेदन करता है। वेदनीयकर्मके २ भेद हैं- (१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। १-सातावेदनीय उसे कहते हैं-जिसके उदयसे इन्द्रियसुखरूप अनुभव हो। २-असातावेदनीय उसे कहते हैं-जिसके उदयसे दुःखरूप अनुभव हो।

मोहनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे मोह, राग और द्वेष उत्पन्न हो। इसके मूल २ भेद हैं—[१] दर्शनमोहनीय, [२] चारित्रमोहनीय। १-दर्शनमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका घात हो। चारित्रमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके चारित्र गुणका घात हो।

देवके शरीरमें रुका रहे।

नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नाना प्रकारके शरीर व शारीरिक भावोंकी रचना हों। नामकर्मके ९३ भेद हैं—गति ४, जाति ५, शरीर ५, आङ्गोपांग ३, निर्माण १, बंधन ५, संघात ५, संस्थान ६, संहनन ६, स्पर्श ८, रस ५, गंध २ वर्ण ५, आनुपूर्व्य ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति २, प्रत्येकशरीर, त्रस, वादर, पर्याप्ति, शुभ, सुभग, सुस्वर, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति, साधारण शरीर, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अस्थिर, अनादेय, अयशः कीर्ति, तीर्थंकरप्रकृति।

गति (४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नारक तिर्यंच मनुष्य देवके आकार शरीर हो व इन गतिके योग्य भाव हो।

जाति (५ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे गतियोंमें एकेन्द्रिय आदि सादृश्य धर्म सहित उत्पन्न हों।

शरीर (५—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे उस उस शरीरकी रचना हो। १—औदारिक शरीर—मनुष्य तिर्यंचोंके शरीरको कहते हैं- जिसके उदयसे औदारिक शरीरकी रचना हो, उसे औदारिक शरीरनामकर्म कहते हैं। २—वैक्रियक शरीर—देव नारकियोंके शरीरको (जो छोटा वड़ा, अनेक प्रकार किया जा सके। वैक्रियक शरीर कहते हैं, जिसके उदयसे वैक्रियक शरीरकी रचना हो, उसे वैक्रियक शरीर नामकर्म कहते हैं। ३—आहारक शरीर-आहारक ऋद्धिधारी प्रमत्त विरत मुनिके जव कोई शंका उत्पन्न हो या वंदनाका भाव हो तव उन मुनिके मस्तकसे एक हाथका, श्वेत, शुभ व्याघातरहित पुतला निकलता है और वह केवली, तीर्थंकर आदिके दर्शन कर वापिस आकर मस्तकमें समा जाता है; उस समय मुनिके शंका दूर हो जाती है उस शरीरको आहारकशरीर कहते हैं और जिसके उदयमें आहारकशरीरकी रचना हो, उसे आहारकशरीर नामकर्म कहते हैं। ४—तैजसशरीर—जो तेज (कांति) का कारण हो वह तैजस शरीर है, जिसके उदयसे तैजस शरीरकी रचना हो, उसे तैजसशरीर नामकर्म कहते हैं। ५—कार्माणशरीर—कर्मोंके समूह या कार्यको कार्माणशरीर कहते है— जिसके उदयसे कार्माणशरीरकी रचना हो, उसे कार्माणशरीर नामकर्म कहते हैं।

अङ्गोपाङ्ग—(३ औदारिक, वैक्रियक आहारक अङ्गोपाङ्ग) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे २ हाथ, २ पैर, नितम्व, पीठ, हृदय, मस्तक इन आठों अंगोंकी व आंख, नाक, अंगुलि आदि उपाङ्गोंकी रचना हो।

निर्माण नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे ठीक ठीक स्थान पर ठीक ठीक प्रमाणसे अङ्ग उपाङ्गोंकी रचना हो।

देवके शरीरमें रुका रहे।

नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नाना प्रकारके शरीर व शारीरिक भावोंकी रचना हों। नामकर्मके ९३ भेद हैं—गति ४, जाति ५, शरीर ५, आङ्गोपांग ३, निर्माण १, बंधन ५, संघात ५, संस्थान ६, संहनन ६, स्पर्श ८, रस ५, गंध २ वर्ण ५, आनुपूर्व्य ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति २, प्रत्येकशरीर, त्रस, वादर, पर्याप्ति, शुभ, सुभग, सुस्वर, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति, साधारण शरीर, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अस्थिर, अनादेय, अयशः कीर्ति, तीर्थंकरप्रकृति।

गति (४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नारक तिर्यंच मनुष्य देवके आकार शरीर हो व इन गतिके योग्य भाव हो।

जाति (५ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे गतियोंमें एकेन्द्रिय आदि सादृश्य धर्म सहित उत्पन्न हों।

शरीर (५—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे उस उस शरीरकी रचना हो। १—औदारिक शरीर—मनुष्य तिर्यंचोंके शरीरको कहते हैं- जिसके उदयसे औदारिक शरीरकी रचना हो, उसे औदारिक शरीरनामकर्म कहते हैं। २—वैक्रियक शरीर—देव नारकियोंके शरीरको (जो छोटा बड़ा, अनेक प्रकार किया जा सके। वैक्रियक शरीर कहते हैं, जिसके उदयसे वैक्रियक शरीरकी रचना हो, उसे वैक्रियक शरीर नामकर्म कहते हैं। ३—आहारक शरीर-आहारक ऋद्धिधारी प्रमत्त विरत मुनिके जब कोई शंका उत्पन्न हो या वंदनाका भाव हो तब उन मुनिके मस्तकसे एक हाथका, श्वेत, शुभ व्याघातरहित पुतला निकलता है और वह केवली, तीर्थंकर आदिके दर्शन कर वापिस आकर मस्तकमें समा जाता है; उस समय मुनिके शंका दूर हो जाती है उस शरीरको आहारकशरीर कहते हैं और जिसके उदयमें आहारकशरीरकी रचना हो, उसे आहारकशरीर नामकर्म कहते हैं। ४—तैजसशरीर—जो तेज (कांति) का कारण हो वह तैजस शरीर है, जिसके उदयसे तैजस शरीरकी रचना हो, उसे तैजसशरीर नामकर्म कहते हैं। ५—कार्माणशरीर—कर्मोंके समूह या कार्यको कार्माणशरीर कहते है—जिसके उदयसे कार्माणशरीरकी रचना हो, उसे कार्माणशरीर नामकर्म कहते हैं।

अङ्गोपाङ्ग—(३ औदारिक, वैक्रियक आहारक अङ्गोपाङ्ग) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे २ हाथ, २ पैर, नितम्ब, पीठ, हृदय, मस्तक इन आठों अंगोंकी व आंख, नाक, अंगुलि आदि उपाङ्गोंकी रचना हो।

निर्माण नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे ठीक ठीक स्थान पर ठीक ठीक प्रमाणसे अङ्ग उपाङ्गोंकी रचना हो।

शरीरमें प्रतिनियत वर्ण (रूप) हो।

आनुपूर्व्य–(४ नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगत्यानुपूर्व्य) नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे विग्रहगतिमें आत्माके प्रदेश पूर्व शरीरके आकारको धारण करें।

६५—अगुरुलघु नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे न तो लोहेके गोलेके समान भारी शरीर हो और न आकके तूलके समान हलका शरीर हो। ६६–उपघात नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे अपने ही घात करने वाले अंग उपांग या वातपित्तादि हों। ६७–परघात नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे दूसरोंके घात करने वाले अंग उपांग हों। ६८–आतपनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे आतप रूप शरीर हो। ६९–उद्योत-मकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर हो। ७०–उच्छ्वासनामकर्म–उसे हते हैं जिसके उदयसे श्वासउच्छ्वास की क्रिया हो।

७१-७२–विहायोगति प्रशस्त, अप्रशस्त) नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे मन हो।

७३–प्रत्येकशरीर नामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे एक शरीरका स्वामी एक व हो। ७४–त्रसनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो। ५–सुभगनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे विरूप आकार होकर भी दूसरोंको प्रीति त्पन्न हो। ७६–सुस्वरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे अच्छा स्वर हो। ७७–शुभ-मकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे सुन्दर अवयव हो। ७८–बादरनामकर्म—उसे कहते जिसके उदयसे दूसरोंको बाधाका कारणभूत स्थूल शरीर हो। ७९—पर्याप्तिनामकर्म—से कहते हैं जिसके उदयसे अपने अपने योग्य यथासंभव (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासो-छ्वास, भाषा और मन) पर्याप्तियोंको पूर्ण करे। ८०–स्थिरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके दयसे शरीरके रसादिक धातु और वातादि उपधातु अपने अपने ठिकाने (स्थिर) रहें। १–आदेयनामकर्म—उसे कहते हैं जिनके उदयसे कान्तिसहित शरीर हो।

८२–यशःकीर्तिनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे यश और कीर्ति हो।

८३–साधारणशरीरनामं—उसे कहते हैं जिसके उदयसे अनेक आत्माओंके उपभोग । कारणभूत एक शरीर हो। ८४–स्थावरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे पृथ्वी, जल, ग्नि, वायु, वनस्पतिमें जन्म हो। ८५–दुर्भगनामकर्म--उसे कहते हैं जिसके उदयसे रूपादिक ण सहित होनेपर भी दूसरोंको अच्छा न लगे। ८६–दुःस्वरनामकर्म--उसे कहते हैं जिसके दयसे स्वर अच्छा न हो। ८७–अशुभनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे शरीरके वयव सुन्दर न हों। ८८–सूक्ष्मनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर

शरीरमें प्रतिनियत वर्ण (रूप) हो।

आनुपूर्व्य–(४ नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगत्यानुपूर्व्य) नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे विग्रहगतिमें आत्माके प्रदेश पूर्व शरीरके आकारको धारण करें।

६५—अगुरुलघु नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे न तो लोहेके गोलेके समान भारी शरीर हो और न आकके तूलके समान हलका शरीर हो। ६६–उपघात नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे अपने ही घात करने वाले अंग उपांग या वातपित्तादि हों। ६७–परघात नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे दूसरोंके घात करने वाले अंग उपांग हों। ६८–आतपनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे आतप रूप शरीर हो। ६९–उद्योत-मकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर हो। ७०–उच्छ्वासनामकर्म–उसे हते हैं जिसके उदयसे श्वासउच्छ्वास की क्रिया हो।

७१-७२–विहायोगति प्रशस्त, अप्रशस्त) नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे मन हो।

७३–प्रत्येकशरीर नामकर्म — उसे कहते हैं जिसके उदयसे एक शरीरका स्वामी एक व हो। ७४–त्रसनामकर्म — उसे कहते हैं जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो। ५–सुभगनामकर्म — उसे कहते हैं जिसके उदयसे विरूप आकार होकर भी दूसरोंको प्रीति त्पन्न हो। ७६–सुस्वरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे अच्छा स्वर हो। ७७–शुभ-मकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे सुन्दर अवयव हो। ७८–वादरनामकर्म—उसे कहते जिसके उदयसे दूसरोंको वाधाका कारणभूत स्थूल शरीर हो। ७९—पर्याप्तिनामकर्म—से कहते हैं जिसके उदयसे अपने अपने योग्य यथासंभव (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासो-च्छ्वास, भाषा और मन) पर्याप्तियोंको पूर्ण करे। ८०–स्थिरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके दयसे शरीरके रसादिक धातु और वातादि उपधातु अपने अपने ठिकाने (स्थिर) रहें। १–आदेयनामकर्म—उसे कहते हैं जिनके उदयसे कान्तिसहित शरीर हो।

८२–यशःकीर्तिनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे यश और कीर्ति हो।

८३–साधारणशरीरनामं—उसे कहते हैं जिसके उदयसे अनेक आत्माओंके उपभोग ा कारणभूत एक शरीर हो। ८४–स्थावरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे पृथ्वी, जल, ग्नि, वायु, वनस्पतिमें जन्म हो। ८५–दुर्भगनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे रूपादिक ण सहित होनेपर भी दूसरोंको अच्छा न लगे। ८६–दुःस्वरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके दयसे स्वर अच्छा न हो। ८७–अशुभनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे शरीरके वयव सुन्दर न हों। ८८–सूक्ष्मनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर

भी धर कैसे है, किन्तु हम अल्पज्ञानी भूत नहीं कर पाते । जीवका पुनर्जन्म होता है याने देहान्तरको धारण करता है, इस सम्बन्धमें ये प्रमाण हो सकते हैं— [१] जो सत् होता है उसका नाश नहीं किया जाता अपने कालमें उत्पाद व्यय करता हुआ रहता है यह भली भांति प्रत्यक्ष, युक्ति तथा स्वानुभवसे सिद्ध है । आत्मा भी सत् है, वह एक देहके छोड़नेके बाद नष्ट हो जाता तो वह तो हो नहीं सकता । तब रहता किस स्थितिमें है ? यही समझने की बात है । यदि वह जीव वीतराग, निर्दोष, केवलज्ञानी, परमात्मा हो गया होता है तब तो वह केवल अशरीर सिद्ध हो जाता, किन्तु जो जीव राग द्वेषसहित ही रहकर मरण करते हैं, वे इस रागद्वेष अवस्थामें रहनेसे देहबन्धनकी तरह आगे भी देहबन्धनमें रहते हैं । इसीको पुनर्जन्म, देहान्तरधारण, पुनरागमन, नवभवग्रहण आदि कहते हैं । [२] किसी किसी बालको बालिको पूर्वजन्मस्मरण (जातिस्मरण) हो जाता है, यह बात भी समाचारोंमें आई हुई है । [३] नया उत्पन्न हुआ बालक बिना ही समझाये बताये जैसे माता के स्तनको चूसने लगता है, दुःखी होनेसे चिल्लाता है आदि बातें पूर्वजन्मके संज्ञा संस्कार को सिद्ध करती है । [४] कोई बालक थोड़ा सिखाये जाने पर भी बहुत सीख जाता है और कोई बालक बहुत सिखाये जानेपर कम सीख पाता है व कोई सीख ही नहीं पाता है । ये भेद जीवके पूर्वजन्मके संस्कार व योग्यताओंको बताते हैं, जिससे पुनर्जन्म सिद्ध होता है, इत्यादि अनेक युक्तियों और अनुभवोंसे पुनर्जन्म सुप्रतीत होता है ।

जीव एक देहसे निकलनेके बाद दूसरे देहको कितनी जल्दी ग्रहण कर लेता है ? इसका सामान्यरूपसे तो यही उत्तर है कि जितने जल्दी हो सकता हो उतने जल्दी ग्रहण कर लेता है, क्योंकि यह जीव अपने आचार-विचारोंके कारण इसही जन्ममें उन सब कर्मों का भी बन्ध कर लेता जो अगले देह विचार, सुख, दुःखके निमित्तभूत होते हैं । वह जल्दीसे जल्दी समय कितना है ? उत्तर— जब हम एटम—सूक्ष्म स्कन्ध) को देखते हैं कि इसकी द्रुतगतिसे जाता है तब एक परमाणुकी द्रुतगति तो एक क्षण (समय) में लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक पहुंच जाता, सिद्ध हो चुका है और जीव जो कि परमाणुसे भी सूक्ष्म है, क्योंकि वह अमूर्त है, वह भी एक समयमें लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जा सकता है इस औदारिकशरीरसे निकलनेके बाद । इससे सिद्ध होता है कि जीव एक समयमें ही देहान्तरधारणके स्थानमें पहुंच जाता है । यदि कोई जन्मस्थान ऐसा हो कि कहीं जीवको मुड़कर जाना पड़े क्योंकि स्थूल शरीररहित जीव दिशासे सामने दिशाकी ओर ही जाता है तो अधिकसे अधिक तीन समय बाद जन्म धारण कर लेता है, क्योंकि लोक इसी आकार का है, जहां इसे जीवको मुड़कर भी जाना पड़े तो ३ से अधिक मोड़ हो ही नहीं सकते ।

कितने ही लोगोंकी धारणा है कि जीव १२-१३ दिन तक नवीन देह धारण

भी कर देते हैं, किन्तु आत्मज्ञानसे शून्य नहीं कर पाते। जीवका पुनर्जन्म होता है याने देहान्तरको धारण करता है, इस सम्बन्धमें ये ये प्रमाण हो सकते हैं— [१] जो सत् होता है उसका नाश नहीं किया जाता अपने कालमें उत्पाद व्यय करता हुआ रहता है यह भली भांति प्रत्यक्ष, युक्ति एवं स्वानुभवसे सिद्ध है। आत्मा भी सत् है, वह एक देहके छोड़नेके बाद नष्ट हो जाता हो यह तो हो नहीं सकता। तब रहता किस स्थितिमें है? यही समझने की बात आती है। यदि वह जीव वीतराग, निर्दोष, केवलज्ञानी, परमात्मा हो गया होता है तब तो वह केवल अशरीर सिद्ध हो जाता, किन्तु जो जीव राग द्वेषसहित हो रहकर मरण करते हैं, वे इस रागद्वेष अवस्थामें रहनेवाले देहबन्धनकी तरह आगे भी देहबन्धनमें रहते हैं। इसीको पुनर्जन्म, देहान्तरधारण, पुनरागमन, नवभवग्रहण आदि कहते हैं। [२] किन्हीं किन्हीं बालकों बालिकाओंको पूर्वजन्मस्मरण (जातिस्मरण) हो जाता है, यह बात भी समाचारोंमें आई हुई है। [३] तुरंत उत्पन्न हुआ बालक बिना ही समझाये बताये जैसे माता के स्तनको चूसने लगता है, दूधको कंठसे निगलता है आदि बातें पूर्वजन्मके संज्ञा संस्कार को सिद्ध करती हैं। [४] कोई बालक थोड़ा सिखाये जाने पर भी बहुत सीख जाता है और कोई बालक बहुत सिखाने पर अधिक नहीं सीख पाता है व कोई सीख ही नहीं पाता है। ये भेद जीवके पूर्वजन्मके संस्कार व योग्यताओंको बताते हैं, जिससे पुनर्जन्म सिद्ध होता है, इत्यादि अनेक युक्तियों और अनुभवोंसे पुनर्जन्म सुप्रतीत होता है।

जीव एक देहसे निकलनेके बाद दूसरे देहको कितनी जल्दी ग्रहण कर लेता है? इसका सामान्यरूपसे तो यही उत्तर है कि जितने जल्दी हो सकता हो उतने जल्दी ग्रहण कर लेता है, क्योंकि यह जीव अपने आचार-विचारोंके कारण इसही जन्ममें उन सब कर्मों का भी बन्ध कर लेता जो अगले देह विचार, सुख, दुःखके निमित्तभूत होते हैं। वह जल्दीसे जल्दी समय कितना है? उत्तर— जब हम एटम— सूक्ष्म स्कन्ध) को देखते हैं कि इसकी द्रुतगतिसे जाता है तब एक परमाणुकी द्रुतगति तो एक क्षण (समय) में लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक पहुंच जाता, सिद्ध हो चुका है और जीव जो कि परमाणुसे भी सूक्ष्म है, क्योंकि वह अमूर्त है, वह भी एक समयमें लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जा सकता है इस औदारिकशरीरसे निकलनेके बाद। इससे सिद्ध होता है कि जीव एक समयमें ही देहान्तरधारणके स्थानमें पहुंच जाता है। यदि कोई जन्मस्थान ऐसा हो कि कहीं जीवको मुड़कर जाना पड़े क्योंकि स्थूल शरीररहित जीव दिशासे सामने दिशाकी ओर ही जाता है तो अधिकसे अधिक तीन समय बाद जन्म धारण कर लेता है, क्योंकि लोक इसी आकार का है, जहां इसे जीवको मुड़कर भी जाना पड़े तो ३ से अधिक मोड़ हो ही नहीं सकते।

कितने ही लोगोंकी धारणा है कि जीव १२-१३ दिन तक नवीन देह धारणके

ही परिणाम दुर्गतिसे बचानेवाले हैं अर्थात् पापयोनियोंमें पुनर्जन्म न हो सके, ऐसी रक्षा करनेवाले हैं।

काल रचना

काल (समय) क्या किसीके द्वारा रचा गया है? ऐसी कल्पना भी किसी किसीके आज तक नहीं हुई। जो भाई ऐसा आशय रखते हैं कि जीव और भौतिक पदार्थ किसी एक समर्थ चेतन (ईश्वर) द्वारा रचे गये हैं, उनका भी समय रचे जानेके बावत अभिप्राय नहीं हो सकता। समय क्या है? यह बात सभी मनुष्योंके चित्त में स्पष्ट समझमें आ रही है और वह इस रूपसे समझमें आ रही है कि सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि समय ही तो हैं।

इस सम्बन्धमें नैयायिक, वैशेषिक आदि अनेक बन्धुओंने काल नामक पदार्थ माना है और जैनदर्शनमें कालनामक द्रव्य असंख्यात माने हैं जो कि लोकके एक एक प्रदेशपर एक एक हैं। उनका एक एक समय (क्षण) के रूपमें होता है। उन परिणमनों (समयों) के यथायोग्य समुदायको सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि कहते हैं। यह काल कबसे चला आ रहा है? इसपर विचार करें तो ऐसा कहीं टिकाव ही नहीं हो सकता कि लो अमुक दिन पहिले तो काल (समय) था ही नहीं। कालकी कोई आदि ही नहीं। काल अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसका कभी अन्त ही नहीं होगा।

वस्तुतः काल सर्वदा एक समान ही है, परन्तु जिस जिस कालमें जीवोंका व भौतिक पदार्थोंका परिणमन विभिन्न विभिन्न देखा जाता है उस उस कालको नाना संज्ञाओंसे संज्ञित करके कहा जाता है। आज जो समय व्यतीत हो रहा है वह जीवोंके बल, बुद्धि, शरीर, पुण्य, आदिकी उत्तरोत्तर हीनतामें बीत रहा है। यह हीनता कुछ काल तक और चलती रहेगी। अति चिरकाल तक हीनता चलती रहे, यह नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेसे तो सर्व अणुमात्र रह जायगा और फिर उसका भी लोप हो जायगा। इससे यह क्षीणता कुछ समय तक और चलेगी। परिणाम यह निकला कि उसके बाद फिर जीवोंके देह, बुद्धि, बल पुण्यमें वृद्धि होती चलेगी। इसी प्रकार यह क्षीणता कुछ पहिलेसे चली आ रही है। यह क्षीणता प्रारम्भसे चली आ रही है यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे सर्व महत्ता, अनवकाश, स्वरूपाभाव आदि अनेक दोष आते हैं। परिणाम यह निकाला कि यह हानिप्रवाह कुछ पहिलेसे चल रहा है। इससे पहिले वृद्धिप्रवाह था। इस तरह कालचक्र दो भागोंमें बंट जाता है— (१) वृद्धिकाल, (२) हानिकाल। जैनदर्शनमें वृद्धिकालका नाम उत्सर्पिणीकाल कहा है और हानिकालका नाम अवसर्पिणीकाल कहा है तथा एक वृद्धिकाल

ही परिणाम दुर्गतिसे बचानेवाले हैं अर्थात् पापयोनियोंमें पुनर्जन्म न हो सके, ऐसी रक्षा करनेवाले हैं।

काल रचना

काल (समय) क्या किसीके द्वारा रचा गया है ? ऐसी कल्पना भी किसी किसीके आज तक नहीं हुई। जो भाई ऐसा आशय रखते हैं कि जीव और भौतिक पदार्थ किसी एक समर्थ चेतन (ईश्वर) द्वारा रचे गये हैं, उनका भी समय रचे जानेके बावत अभिप्राय नहीं हो सकता। समय क्या है ? यह बात सभी मनुष्योंके चित्तमें स्पष्ट समझमें आ रही है और वह इस रूपसे समझमें आ रही है कि सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि समय ही तो हैं।

इस सम्बन्धमें नैयायिक, वैशेषिक आदि अनेक बन्धुओंने काल नामक पदार्थ माना है और जैनदर्शनमें कालनामक द्रव्य असंख्यात माने हैं जो कि लोकके एक एक प्रदेशपर एक एक हैं। उनका एक एक समय (क्षण) के रूपमें होता है। उन परिणमनों (समयों) के यथायोग्य समुदायको सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि कहते हैं। यह काल कबसे चला आ रहा है ? इसपर विचार करें तो ऐसा कहीं टिकाव ही नहीं हो सकता कि लो अमुक दिन पहिले तो काल (समय) था ही नहीं। कालकी कोई आदि ही नहीं। काल अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसका कभी अन्त ही नहीं होगा।

वस्तुतः काल सर्वदा एक समान ही है, परन्तु जिस जिस कालमें जीवोंका व भौतिक पदार्थोंका परिणमन विभिन्न विभिन्न देखा जाता है उस उस कालको नाना संज्ञाओंसे संज्ञित करके कहा जाता है। आज जो समय व्यतीत हो रहा है वह जीवोंके बल, बुद्धि, शरीर, पुण्य, आदिकी उत्तरोत्तर हीनतामें बीत रहा है। यह हीनता कुछ काल तक और चलती रहेगी। अति चिरकाल तक हीनता चलती रहे, यह नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेसे तो सर्व अणुमात्र रह जायगा और फिर उसका भी लोप हो जायगा। इससे यह क्षीणता कुछ समय तक और चलेगी। परिणाम यह निकला कि उसके बाद फिर जीवोंके देह, बुद्धि, बल पुण्यमें वृद्धि होती चलेगी। इसी प्रकार यह क्षीणता कुछ पहिलेसे चली आ रही है। यह क्षीणता प्रारम्भसे चली आ रही है यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे सर्व महत्ता, अनवकाश, स्वरूपाभाव आदि अनेक दोष आते हैं। परिणाम यह निकाला कि यह हानिप्रवाह कुछ पहिलेसे चल रहा है। इससे पहिले वृद्धिप्रवाह था। इस तरह कालचक्र दो भागोंमें बंट जाता है—(१) वृद्धिकाल, (२) हानिकाल। जैनदर्शनमें वृद्धिकालका नाम उत्सर्पिणीकाल कहा है और हानिकालका नाम अवसर्पिणीकाल कहा है तथा एक वृद्धिकाल

महाबल, अतिबल, अमृत, सुभद्र, सागरभद्र, रवितेज, शशि, प्रभूततेज, तपबल, अतिवीर्य, सोमयश सौम्य, महाबल, सुबलि, नमि, विनमि, रत्नमाली, रत्नरथ, रत्नचित्र, चन्द्ररथ, वज्रजंघ, विद्युद्दंष्ट्र, वज्रबाहु, वज्रसुन्दर, विद्युद्दंष्ट्र, विद्युद्वेग, अरिवायुध, पद्मनाभि, पद्मरथ, सिंहयान, सिंहप्रभ, शशाङ्क, चन्द्राङ्क, चन्द्रशेखर, इन्द्ररथ, चक्रधर्म, चक्रायुध, चक्रध्वज, मणिरथ, पूर्णचन्द्र, वलिहस्ती, धरणीधर, जितशत्रु, जितायु, अजितनाथ, सागरचक्री, भीमरथ, भगीरथ, सुलोचन, सहस्रनयन, पूर्णमेघ, मेघवाहन, उदधिरक्ष, भानुरक्ष, महारक्ष, राक्षस, आदित्य गति, सुग्रीव, हरिग्रीव, भानुगति, इन्द्र, इन्द्रप्रभ, पवि, इन्द्रजीत, भानु, मुरारी, भीम, मोहन, सिंहविक्रम, चामुंड, मारण, अग्निदमन, निर्वाणभक्ति, अर्हद्भक्त, अनुत्तर, लंक, चंद्र, वृहद्गति, चन्द्रावर्त, महारव, मेघध्वनि, ग्रहप्रभ, ज्योतिषचन्द्र, विद्युत्केश, सुकेश, माली, सुमाली, रत्नश्रवा, रावण, विभीषण, मेघवाहन, इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, सहस्रार, इन्द्र, अतीन्द्र, श्रीकण्ठ अमरप्रभ, महोदधि, प्रतिचन्द्र, किष्किंध, सूर्यरज, बाली, सुग्रीव, नल, नील, प्रह्लाद, वायुकुमार, हनुमान, वज्राङ्कुश, मघवा चक्री, सनत्कुमार, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, मुनिसुव्रतनाथ, जयसेन, नमिनाथ, ब्रह्मदत्त, त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण, कृष्ण ये ९ नारायण, अचल, विजय, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिमित्र, नंदिषेण, रामचन्द्र, बलदेव ये ९ बलभद्र, सुव्रत, दक्ष, एलावर्द्धन, श्रीवर्द्धन, श्रीवृक्ष, संजयंत, कुणिम, महारथ, पुलोम, वासवकेतु, जनक, भामंडल, सीता, वसुदेव, समुद्रविजय, नेमिनाथ, बलदेव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, शंबु, युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव, दुर्योधनादि, विजय, सुरेन्द्रमन्यु, वज्रबाहु, पुरंदर, कीर्तिधर, सुकोशल, सौदास, ब्रह्मरथ, सत्यरथ, पृथुरथ, पयोरथ, दृढ़रथ, सूर्यरथ, रविमन्यु, शतरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरण्यकश्यप, पुञ्जस्थल, ककुत्स्थल, रघु, अनारण्य, दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, अनङ्गलवण, मदनाङ्कुश, पार्श्वनाथ, महावीर, गौतम, सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, धरसेनाचार्य गुणधराचार्य, पुष्पदंत, भूतबलि आर्यमंक्ष, नागहस्ती, यतिवृषभाचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, समंतभद्र, कार्तिकेय, सिद्धसेन, अकलङ्कदेव, पात्रकेशरी, विद्यानंदी, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, जरथुस्त, कनफ्यूशस, लाओत्जे, पाइथागोरस, रोमलुस, सुलेमान, दाओ, विल्जे, अरस्तू, सुकरात, सिकन्दर, सैल्यूकस, चन्द्रगुप्त, चाणक्य विक्रमादित्य शाहंशाह, बिन्दुसार, अशोक, शहाबुद्दीन, सिकंदर, कुतुबउद्दीन, चंगेजखाँ, तैमूर, विलियम, बाबर, अकबर, जहांगीर, औरंगजेब, पृथ्वीराज, नानक, शिवाजी, प्रताप, भामाशाह आदि अनेक राजा महाराजा, विद्वान् व योगी हुए।

कालवश सभीको शरीर छोड़ना पड़ा। कोई तो शरीर छोड़कर मुक्त हुए, कोई

महाबल, अतिबल, अमृत, सभद्र, सागर भद्र, रवि, प्रभूततेज, तपबल, अतिवीर्य, सोमयश सौम्य, महाबल, सुबल, रवि, मिमिमि, रत्नमाली, रत्नरथ, रत्नचित्र, चन्द्ररथ, वज्रसंघ, विद्युदंष्ट्र, वज्रबाहु, वज्रसुन्दर, विद्युदंष्ट्र, विद्युद्वेग, अस्त्रायुध, पद्मनाभि, पद्मरथ, सिंहयान, सिंहप्रभ, चन्द्राङ्क, चन्द्राङ्क, चन्द्रशेखर, इन्द्ररथ, चक्रधर्म, चक्रायुध, चक्रध्वज, मणिरथ, पूर्णचन्द्र, बहिदृष्टी, चक्रशेखर, विद्युज्जय, जितायु, अजितनाथ, सागरचक्री, भीमरथ, भगीरथ, सुलोचन, महालोचन, पूर्णमेघ, मेघवान, उदधिरक्ष, भानुरक्ष, महारक्ष, राक्षस, आदित्य गति, सुग्रीव, हरिग्रीव, भानुगति, इन्द्र, इन्द्रप्रभ, पवि, इन्द्रजीत, भानु, मुरारी, भीम, मोहन सिंहविक्रम, चामुंड भीम, अग्निमान, निर्वाणभक्ति, अर्हद्भक्त, अनुत्तर, लंक, चंद्र, बृहद्गति, चन्द्रावर्त, महारव, मेघध्वनि, ग्रहप्रभ, रौलिघवल, विद्युत्केश, सुकेश, माली, सुमाली, रत्नश्रवा, रावण, विभीषण, मेघवाहन, इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, सहस्रार, इन्द्र, अतीन्द्र, श्रीकण्ठ अमरप्रभ, महोदधि, प्रतिचन्द्र, किहकंध, सूर्यरज, बाली, सुग्रीव, नल, नील, प्रह्लाद, वायुकुमार, हनुमान चक्राङ्कुश्ली, मघवा चक्री, सनत्कुमार, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, मुनिसुव्रतनाथ, जयसेन, नमिनाथ, ब्रह्मदत्त, त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण, कृष्ण ये ६ नारायण, अचल, विजय, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिमित्र, नंदिषेण, रामचन्द्र, बलदेव ये ६ बलभद्र, सुव्रत, दक्ष, एलावर्द्धन, श्रीवर्द्धन, श्रीवृक्ष, संजयंत, कुणिम, महारथ, पुलोम, वासवकेतु, जनक, भामंडल, सीता, समुद्र, समुद्रविजय, नेमिनाथ, बल्देव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, शंबु, युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव, दुर्योधनादि, विजय, सुरेन्द्रमन्यु वज्रबाहु, पुरंदर, कीर्तिधर, सुकोशल, सौदास, ब्रह्मरथ, सत्यरथ, पृथुरथ, पयोरथ, दृढ़रथ, सूर्यरथ, रविमन्यु, शतरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरण्यकश्यप, पुञ्जस्थल, ककुस्थल, रघु, अनारण्य, दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, अनङ्गलवण, मदनाङ्कुश, पार्श्वनाथ, महावीर, गौतम, सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, धरसेनाचार्य गुणधराचार्य, पुष्पदंत, भूतबलि आर्यमंक्ष, नागहस्ती, यतिवृषभाचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, समंतभद्र, कार्तिकेय, सिद्धसेन, अकलङ्कदेव, पात्रकेशरी, विद्यानंदी, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, जरथुस्त, कनफ्यूशस, लाओत्जे, पाइथागोरस, रोमलुस, सुलेमान, प्लेटो, विल्जे, अरस्तू, सुकरात, सिकन्दर, सैल्यूकस, चन्द्रगुप्त, चाणक्य विक्रमादित्य शाहंशाह, बिन्दुसार, अशोक, शहाबुद्दीन, सिकंदर, कुतुबउद्दीन, चंगेजखाँ, तैमूर, विलियम, बाबर, अकबर, जहांगीर, औरंगजेब, पृथ्वीराज, नानक, शिवाजी, प्रताप, भामाशाह आदि अनेक राजा महाराजा, विद्वान् व योगी हुए।

कालवश सभीको शरीर छोड़ना पड़ा। कोई तो शरीर छोड़कर मुक्त हुए, कोई

लाख हस्तप्रहेलितका--१ अचलप्र । संख्यात अचलप्रोंका १ उत्कृष्ट संख्यात ।

उत्कृष्ट संख्यातके ऊपर असंख्यात व असंख्यातोंके ऊपर अनन्त आते हैं। जिनका क्रम इस प्रकार है— जघन्यपरीतासंख्यात, मध्यपरीतासंख्यात । उत्कृष्ट परीतासंख्यात । जघन्ययुक्तासंख्यात, मध्यमयुक्तासंख्यात, उत्कृष्टयुक्तासंख्यात । जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात, जघन्य परीतानन्त, मध्यम परीतानन्त, उत्कृष्ट परीतानन्त । जघन्य युक्तानन्त, मध्यम युक्तानन्त, उत्कृष्ट युक्तानन्त । जघन्य अनन्तानन्त, मध्यम अनंतानंत उत्कृष्ट अनन्तानन्त । भगवानका ज्ञान (केवलज्ञान) उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण है अर्थात् केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त हैं। जिसका विवरण यह है कि जघन्य अनन्तानन्तको ३ वार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध जीव, निगोदराशि, प्रत्येकवनस्पति, पुद्गलराशि, कालके समय, आलोकाकाशके प्रदेश—ये ६ राशियां मिलाकर उत्पन्न हुई। राशिको फिर ३ वार वर्गित संवर्गित करके उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य-सम्बन्धी अगुरलघुगुणके अविभागप्रतिच्छेद मिलाकर जो लब्ध हो उस महाराशिको ३ वार वर्गित संवर्गित करे जो लब्ध हो उसे केवलज्ञानमें अविभागप्रतिच्छेदोंमें से घटावे, जो शेष हो उसे केवलज्ञानमें मिला देवे, इस प्रकार जो राशि हो वह उत्कृष्ट अनन्तानन्त है।

लोकरचना

अनेक प्राचीन आर्षग्रन्थोंमें भरतक्षेत्र, जम्बूद्वीप, सुमेरुपर्वत, आर्यखण्डकी चर्चा आई है, किन्तु आजकी इन्द्रियसाध्य प्रणालीमें १०--१२ हजार गज मीलमें विस्तार वाली दुनिया मानी जा रही। मानें, परन्तु ये अन्वेषक भी मानी हुई दुनियासे अधिक अधिक स्थल पाये जानेपर और और मानते चले आये हैं। इससे यह नहीं माना जा सकता है कि जहाँ तक परिचित हम लोग आ जा सके हैं, उतनी ही दुनिया है। लोकका सारा कितना विस्तार है? इसको जाननेके यत्नमें हमें आर्षग्रन्थोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

लोकरचना जाननेके लिये अब हम आर्षग्रन्थोंके निकट आवें। जैनसिद्धान्तमें समस्त लोक एक पुरुषाकार है, जिसमें आकार ऐसा है कि कोई पुरुष पैर पसारे कमर पर हाथ रखे हुए खड़ा है। उसके पीछे सर्वत्र ७ राजू विस्तार है। सामने पैरोंपर ७ राजू, फिर ऊपर चलकर घटकर कमरके पास एक राजू, फिर बढ़कर करीब छातीके पास ५ राजू, फिर घटकर ग्रीवाके पास एक राजू है। इस लोकके ठीक बीचमें ऊपर नीचे १४ राजू लम्बी त्रस-नाली है, इसके ठीक बीचमें मध्यलोक है, उसके नीचे सात राजूमें नीचे नीचे सात्तर ७ नर्क हैं। मध्यलोकसे ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जिसमें ऊपर ऊपर ८ युगलोह, १६ स्वर्ग, फिर ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर विमान हैं। इससे ऊपर सिद्धशिला है, इससे ऊपर अन्तमें

लाख हस्तप्रहेलितका--१ अचलप्र । संख्यात अचलप्रोंका १ उत्कृष्ट संख्यात ।

उत्कृष्ट संख्यातके ऊपर असंख्यात व असंख्यातोंके ऊपर अनन्त आते हैं । जिनका क्रम इस प्रकार है— जघन्यपरीतासंख्यात, मध्यपरीतासंख्यात । उत्कृष्ट परीतासंख्यात । जघन्ययुक्तासंख्यात, मध्यमयुक्तासंख्यात, उत्कृष्टयुक्तासंख्यात । जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात, जघन्य परीतानन्त, मध्यम परीतानन्त, उत्कृष्ट परीतानन्त । जघन्य युक्तानन्त, मध्यम युक्तानन्त, उत्कृष्ट युक्तानन्त । जघन्य अनन्तानन्त, मध्यम अनंतानंत उत्कृष्ट अनन्तानन्त । भगवानका ज्ञान (केवलज्ञान) उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण है अर्थात् केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त हैं । जिसका विवरण यह है कि जघन्य अनन्तानन्तको ३ वार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध जीव, निगोदराशि, प्रत्येकवनस्पति, पुद्गलराशि, कालके समय, अलोकाकाशके प्रदेश—ये ६ राशियां मिलाकर उत्पन्न हुई । राशिको फिर ३ वार वर्गित संवर्गित करके उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य-सम्बन्धी अगुरलघुगुणके अविभागप्रतिच्छेद मिलाकर जो लब्ध हो उस महाराशिको ३ वार वर्गित संवर्गित करे जो लब्ध हो उसे केवलज्ञानमें अविभागप्रतिच्छेदोंमें से घटावे, जो शेष हो उसे केवलज्ञानमें मिला देवे, इस प्रकार जो राशि हो वह उत्कृष्ट अनन्तानन्त है ।

— ——

लोकरचना

अनेक प्राचीन आर्षग्रन्थोंमें भरतक्षेत्र, जम्बूद्वीप, सुमेरुपर्वत, आर्यखण्डकी चर्चा आई है, किन्तु आजकी इन्द्रियसाध्य प्रणालीमें १०--१२ हजार गज मीलमें विस्तार वाली दुनिया मानी जा रही । मानें, परन्तु ये अन्वेषक भी मानी हुई दुनियासे अधिक अधिक स्थल पाये जानेपर और और मानते चले आये हैं । इससे यह नहीं माना जा सकता है कि जहाँ तक परिचित हम लोग आ जा सके हैं, उतनी ही दुनिया है । लोकका सारा कितना विस्तार है ? इसको जाननेके यत्नमें हमें आर्षग्रन्थोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ।

लोकरचना जाननेके लिये अब हम आर्षग्रन्थोंके निकट आवें । जैनसिद्धान्तमें समस्त लोक एक पुरुषाकार है, जिसमें आकार ऐसा है कि कोई पुरुष पैर पसारे कमर पर हाथ रखे हुए खड़ा है । उसके पीछे सर्वत्र ७ राजू विस्तार है । सामने पैरोंपर ७ राजू, फिर ऊपर चलकर घटकर कमरके पास एक राजू, फिर बढ़कर करीब छातीके पास ५ राजू, फिर घटकर ग्रीवाके पास एक राजू है । इस लोकके ठीक बीचमें ऊपर नीचे १४ राजू लम्बी त्रस-नाली है, इसके ठीक बीचमें मध्यलोक है, उसके नीचे सात राजूमें नीचे नीचे सात्तर ७ नर्क हैं । मध्यलोकसे ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जिसमें ऊपर ऊपर ८ युगलोह, १६ स्वर्ग, फिर ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर विमान हैं । इससे ऊपर सिद्धशिला है, इससे ऊपर अन्तमें

स्थान है। उसके १२ लाख योजन नीचे यक्ष, राक्षस व पिशाच रहते हैं। उनके १०० योजन नीचे मर्त्यलोक है, इत्यादि सब १४ लोक हैं। इनके नाम है---[१] पाताल, [२] रसातल, [३] महातल, [४] तलातल, [५] सुतल, [६] वितल, [७] अतल, [८] भूर्लोक, [९] भुवर्लोक, [१०] स्वर्लोक, [११] महर्लोक, [१२] जनलोक, [१३] तपलोक व [१४] सत्यलोक। सबसे नीचे पाताल है, सबसे ऊपर सत्यलोक है।

इत्यादि प्राचीन ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें भूमिका विस्तार आधुनिक खोजवाली दुनियासे कितना ही अधिक है। उन आर्षलोकरचनाओंमें कौन यथार्थ है, इसका परिचय उस उस दर्शनके अनेक सिद्धान्तोंमें अध्ययन करनेपर स्वतः व्यवस्थित हो जाता है।

क्षेत्रके सबसे छोटे (अविभागी) अंशको प्रदेश कहते हैं। एक परमाणु द्वारा रुद्ध क्षेत्र— १ प्रदेश, अनंतानंतपरमाणुसंघातरुद्ध संक्षिप्त क्षेत्र— १ अवसन्न (उत्संज्ञ), ८ अवसन्न (उत्संज्ञ) का— १ सन्नासन्न (संज्ञ), ८ सन्नासन्नका— १ त्रुटिरेणु, ८ त्रुटिरेणुका— १ त्रसरेणु, ८ त्रसरेणुका— १ रथरेणु, ८ रथरेणुका— उत्तमभोगभूमिज नरके १ केशाग्रकी मोटाई, ८ उत्तमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—मध्यमभोगभूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ मध्यमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—जघन्यभोगभूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ जघन्यभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—कर्मभूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ कर्मभूमिजनरकेशाग्रकोटीका— १ लिक्षा, ८ लिक्षा का— १ यूका, ८ यूकाका— १ यवमध्य, ८ यवमध्यका— १ उत्सेधांगुल, ६ उत्सेधांगुलका— १ पाद, २ पादका— १ वितस्ति (वैथा), २ वितस्तिका— १ हस्त (हाथ), २ हस्तका— १ किष्कु, २ किष्कुका १ दंड (धनुष), २ हजार दंड (धनुष) का— १ कोश (गव्यूत), ४ कोश (गव्यूत) का— १ योजन।

नोट:—[१] ५०० उत्सेधांगुलका १ प्रमाणांगुल होता है। उस प्रमाणांगुलसे बड़ा योजन होता है अर्थात् २००० कोशका १ महायोजन होता है। [२] आत्मांगुल—जिस समय मनुष्यके अंगुलका जो परिमाण होता है वह आत्मांगुल कहलाता है। आजकलके मनुष्योंका आत्मांगुल उत्सेधांगुलके बराबर है।

असंख्यात योजनका—१ राजू। ७ राजूका— १ श्रेणि। ७ राजूके वर्ग, (७ × ७) का— १ प्रतरलोक (४९ राजू), ७ राजूके घन (७ × ७ × ७)— १ सर्वलोक (३४३ राजू)

•••○○•••

स्थान है। उसके १२ लाख योजन नीचे यक्ष, राक्षस व पिशाच रहते हैं। उनके १०० योजन नीचे मर्त्यलोक है, इत्यादि सब १४ लोक हैं। इनके नाम है---[१] पाताल, [२] रसातल, [३] महातल, [४] तलातल, [५] सुतल, [६] वितल, [७] अतल, [८] भूर्लोक, [६] भुवर्लोक, [१०] स्वर्लोक, [११] महर्लोक, [१२] जनलोक, [१३] तपलोक व [१४] सत्यलोक। सबसे नीचे पाताल है, सबसे ऊपर सत्यलोक है।

इत्यादि प्राचीन ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें भूमिका विस्तार आधुनिक खोजवाली दुनिया से कितना ही अधिक है। उन आर्षलोकरचनाओंमें कौन यथार्थ है, इसका परिचय उस उस दर्शनके अनेक सिद्धान्तोंमें अध्ययन करनेपर स्वत: व्यवस्थित हो जाता है।

क्षेत्रके सबसे छोटे (अविभागी) अंशको प्रदेश कहते हैं। एक परमाणु द्वारा रुद्ध क्षेत्र— १ प्रदेश, अनंतानंतपरमाणुसंघातरुद्ध संक्षिप्त क्षेत्र-- १ अवसन्न (उत्संज्ञ), ८ अवसन्न (उत्संज्ञ) का— १ सन्नासन्न (संज्ञ), ८ सन्नासन्नका— १ त्रुटिरेणु, ८ त्रुटिरेणुका— १ त्रसरेणु, ८ त्रसरेणुका-- १ रथरेणु, ८ रथरेणुका— उत्तमभोग-भूमिज नरके १ केशाग्रकी मोटाई, ८ उत्तमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—मध्यमभोग-भूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ मध्यमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका--जघन्यभोग-भूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ जघन्यभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—कर्मभूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ कर्मभूमिजनरकेशाग्रकोटीका— १ लिक्षा, ८ लिक्षा का— १ यूका, ८ यूकाका— १ यवमध्य, ८ यवमध्यका— १ उत्सेधांगुल, ६ उत्सेधांगुलका- १ पाद, २ पादका- १ वितस्ति (वैथा), २ वितस्तिका- १ हस्त (हाथ), २ हस्तका- १ किष्कु, २ किष्कुका १ दंड (धनुप), २ हजार दंड (धनुष) का- १ कोश (गव्यूत), ४ कोश (गव्यूत) का- १ योजन।

नोट:—[१] ५०० उत्सेधांगुलका १ प्रमाणांगुल होता है। उस प्रमाणांगुलसे बड़ा योजन होता है अर्थात् २००० कोशका १ महायोजन होता है। [२] आत्मांगुल — जिस समय मनुष्यके अंगुलका जो परिमाण होता है वह आत्मांगुल कहलाता है। आजकलके मनुष्योंका आत्मांगुल उत्सेधांगुलके बराबर है।

असंख्यात योजनका — १ राजू। ७ राजूका — १ श्रेणि। ७ राजूके वर्ग, (७ × ७) का- १ प्रतरलोक (४९ राजू), ७ राजूके धन (७ × ७ × ७)- १ सर्वलोक (३४३ राजू)

...०O०...

मिथ्यादृष्टि नारकी, ६१- आनतप्राणत कल्पवासी मिथ्या० देव, ६२- तीसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव, ६३- सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पवासी मिथ्या० देव, ६४- दूसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव, ६५- स्त्रीवेदवाले मनुष्य, ६६- सौधर्मैशानकल्पवासी मिथ्यादृष्टि देव, ६७- प्रथमपृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकी, ६८- भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव, ६९- व्यन्तर मिथ्यादृष्टि देव, ७०- ज्योतिष्क मिथ्यादृष्टि देव, ७१- मिथ्यादृष्टि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त, ७२- पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च अपर्याप्त, ७३- चतुरिन्द्रिय जीव, ७४- त्रीन्द्रिय जीव, ७५- द्वीन्द्रिय जीव, ७६- सिद्ध भगवान्, ७७- बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ७८- बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ७९- सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ८०- सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त।

उक्त सब जीवोंमें क्रमवार ऐसा लगाना कि पहिले नम्बर पर लिखे हुए जीवोंसे दूसरे नम्बरके लिखे हुए जीव अधिक हैं, उनसे तीसरे नंबरके अधिक हैं। इस तरह अस्सी तक लगाते जावें। अधिकसे मतलब कहीं ज्यादह, कहीं संख्यातगुणे, कहीं असंख्यातगुणे, कहीं अनन्तगुणे लगाना है। इसके लिये आर्ष आगम देखना चाहिये।

कर्मसत्त्व

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर जो कर्म स्कन्ध जीवके साथ बंध जाते हैं वे अपनी अपनी स्थितिप्रमाण काल तक जीवके साथ बंधे हुए बने रहते हैं। इस स्थितिको सत्त्व कहते हैं। एक समयके जीवपरिणामको निमित्त पाकर जो कर्मस्कन्ध बंधते हैं वे एक नहीं, किन्तु अनन्त होते हैं। एक समयबद्ध उन अनन्त कर्मस्कन्धोंमें से कुछ कर्मस्कन्ध पहिले उदयमें आकर खिर जाते हैं, कुछ और देरमें, कुछ और देरमें। इस तरह असंख्यातों स्थान व स्थितियाँ हो जाती हैं; फिर भी एकसमयबद्ध उन कर्मस्कन्धोंमें जो सबके अन्तमें उदयमें आते हैं या आ सकते हैं, उनकी स्थितिके लक्ष्यसे ही सब कर्मोंकी स्थिति उतनी ही कह दी जाती है, क्योंकि वे सब कर्मस्कन्ध एकसमयबद्ध थे।

यद्यपि कर्मोंके सत्त्वमात्रसे जीवमें विभाव उत्पन्न नहीं होता तो भी यह तो हो ही जाता है कि अमुक प्रकारके कर्मोंके सत्त्वमें अमुक स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः कर्मका सत्त्व भी किसी प्रकार क्लेशका हेतु हो जाता है। जिस प्रकार बाला स्त्रीसे विवाह करने पर बाला स्त्री कुछ दिनों अनुपभोग्य रहती है पश्चात् उपभोग्य होती है; इसी प्रकार नवीन कर्मबन्ध होने पर वे कर्म कुछ समय तक अनुपभोग्य होते हैं पश्चात् उपभोग्य होते हैं। जब तक वे अनुपभोग्य रहते हैं तब तकके समयका नाम अबाधाकाल है अर्थात् इतने समय तक उन कर्मोंके कारण जीवके बाधा उत्पन्न नहीं होती। परन्तु उन कर्मोंका सत्त्व तो तभीसे हो गया जबसे कि वे बद्ध हुए हैं। तथा जैसे बाला स्त्री अनुपभोग्य है तो भी

मिथ्यादृष्टि नारकी, ६१- ब्रह्मादि लान्तवकल्पवासी मिथ्या० देव, ६२- तीसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव, ६३- सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पवासी मिथ्या० देव, ६४- दूसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव, ६५- लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य, ६६- सौधर्मैशानकल्पवासी मिथ्यादृष्टि देव, ६७- प्रथमपृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकी, ६८- भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव, ६९- व्यन्तर मिथ्यादृष्टि देव, ७०- ज्योतिष्क मिथ्यादृष्टि देव, ७१- मिथ्यादृष्टि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त, ७२- पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च अपर्याप्त, ७३- चतुरिन्द्रिय जीव, ७४- त्रीन्द्रिय जीव, ७५- द्वीन्द्रिय जीव, ७६- सिद्ध भगवान्, ७७- बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ७८- बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ७९- सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ८०- सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त।

उक्त सब जीवोंमें क्रमवार ऐसा लगाना कि पहिले नम्बर पर लिखे हुए जीवोंसे दूसरे नम्बरके लिखे हुए जीव अधिक हैं, उनसे तीसरे नंबरके अधिक हैं। इस तरह अस्सी तक लगाते जावें। अधिकके मतलब कहीं ज्यादह, कहीं संख्यातगुणे, कहीं असंख्यातगुणे, कहीं अनन्तगुणे लगाना है। इसके लिये आर्ष आगम देखना चाहिये।

कर्मसत्त्व

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर जो कर्म स्कन्ध जीवके साथ बंध जाते हैं वे अपनी अपनी स्थितिप्रमाण काल तक जीवके साथ बंधे हुए बने रहते हैं। इस स्थितिको सत्त्व कहते हैं। एक समयके जीवपरिणामको निमित्त पाकर जो कर्मस्कन्ध बंधते हैं वे एक नहीं, किन्तु अनन्त होते हैं। एक समयबद्ध उन अनन्त कर्मस्कन्धोंमें से कुछ कर्मस्कन्ध पहिले उदयमें आकर खिर जाते हैं, कुछ और देरमें, कुछ और देरमें। इस तरह असंख्यातों स्थान व स्थितियाँ हो जाती हैं; फिर भी एकसमयबद्ध उन कर्मस्कन्धोंमें जो सबके अन्तमें उदयमें आते हैं या आ सकते हैं, उनकी स्थितिके लक्ष्यसे ही सब कर्मोंकी स्थिति उतनी ही कह दी जाती है, क्योंकि वे सब कर्मस्कन्ध एकसमयबद्ध थे।

यद्यपि कर्मोंके सत्त्वमात्रसे जीवमें विभाव उत्पन्न नहीं होता तो भी यह तो हो ही जाता है कि अमुक प्रकारके कर्मोंके सत्त्वमें अमुक स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः कर्मका सत्त्व भी किसी प्रकार क्लेशका हेतु हो जाता है। जिस प्रकार बाला स्त्रीसे विवाह करने पर बाला स्त्री कुछ दिनों अनुपभोग्य रहती है पश्चात् उपभोग्य होती है; इसी प्रकार नवीन कर्मबन्ध होने पर वे कर्म कुछ समय तक अनुपभोग्य होते हैं पश्चात् उपभोग्य होते हैं। जब तक वे अनुपभोग्य रहते हैं तब तकके समयका नाम अबाधाकाल है अर्थात् इतने समय तक उन कर्मोंके कारण जीवके बाधा उत्पन्न नहीं होती। परन्तु उन कर्मोंका सत्त्व तो तभीसे हो गया जबसे कि वे बद्ध हुए हैं। तथा जैसे बाला स्त्री अनुपभोग्य है तो भी

होता है और मोहनीय कर्मका जघन्यस्थितिबंध सूक्ष्म साम्परायगुणस्थानवर्ती साधुके होता है। आयुकर्मका जघन्यस्थिति बंध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। आयुकर्म का जघन्य सत्त्व अयोगकेवलीके होता है, क्योंकि वहाँ वध्यमान आयु नहीं होती और भुज्यमान आयुके बंध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। विशेष यह है कि उत्तरप्रकृतियोंमें आहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्ग व तीर्थंकर इन प्रकृतियोंको सम्यग्दृष्टि ही बांधते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं बांधते तथा देवायुकी अपेक्षा उत्कृष्ट बंध सम्यग्दृष्टिके होता है। इसी आधारपर कुछ अन्य प्रकृतियोंमें कुछ अन्तर हो जाता है।

सागरके कालका परिमाण बहुत है। इसे संख्यामें नहीं रखा जा सकता, किन्तु उपमा द्वारा जाना जा सकता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये– मानो दो कोश लंबा दो कोश चौड़ा, दो कोश गहरा गड्ढा है, उसमें अत्यन्त पतले बालोंके सूक्ष्म सूक्ष्म (जिनका दूसरा हिस्सा करना कठिन हो) टुकड़ोंको भर दिये जावें। उस भरावको खूब दाबकर भरा जावे जैसे कि कई हाथी उसपर फिरा दिये गये हों। अब उसमें से ०: —१०० वर्ष बाद एक टुकड़ा निकालें। जितने वर्षोंमें सब टुकड़े निकल जावें उतने वर्षोंको तो व्यवहारपल्य कहते हैं। इससे असंख्यातगुणे कालको उद्धारपल्य कहते हैं। इससे भी असंख्यातगुणे काल को अद्धापल्य कहते हैं। १० करोड़ अद्धापल्यको एक सागर कहते हैं। एक करोड़ सागरमें एक करोड़ सागरका गुणा करनेपर जो लब्ध हो, उसे एक कोड़ाकोड़ी सागर कहते हैं। कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव यदि तीव्र मोह मिथ्यात्व करे तो उसके उस समयके उस मोहपरिणामके निमित्तसे ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका मोहनीयकर्म (मिथ्यात्व प्रकृति) बंध जाता है। जो कर्म बंध जाते हैं उनका सत्त्व तब तक रहता है जब तक उदय, उदीरणा, संक्रमण, निर्जरा अथवा क्षय नहीं हो जाता।

जीव अपनी करनीका फल स्वयं कैसे पा लेता है अथवा जीव अपनी करनीके अनुसार फल पाता है? यह बात कर्मसिद्धान्तके माने बिना संगत नहीं बैठती। जीव शुभ अथवा अशुभ भाव करता है। उसी समय उस योग्य कर्मप्रकृतियाँ स्वयं बन्धको प्राप्त होती हैं व बंधनेके बाद सीमित समय तक रहती हैं। उनके उदय अथवा उदीरणा होनेपर जीव स्वयं विकारी होकर शुभभाव, अशुभभाव, सुख अथवा दुःखरूप परिणमन करता है। यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे स्वयं होता रहता है। लोकमें अनेक कार्य इस तरह होते रहते हैं। सूर्यका उदय होता है तब कमल खिल उठते हैं, लोग जाग उठते हैं, उल्लू अन्धे हो जाते हैं इत्यादि अनेक कार्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश देखे जा रहे हैं। ये कर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, आँखोंसे दिखते नहीं। अतः सहसा इनका अवबोध नहीं होता। फिर भी युक्ति, विज्ञानसे प्रसिद्ध ही है। इस जीवपर अनन्त कर्माणुओंका भार है, इसीसे ८४ लाख योनियों

होता है और मोहनीय कर्मका जघन्यस्थितिबंध सूक्ष्म साम्परायगुणस्थानवर्ती साधुके होता है। आयुकर्मका जघन्यस्थिति बंध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। आयुकर्म का जघन्य सत्त्व अयोगकेवलीके होता है, क्योंकि वहां वध्यमान आयु नहीं होती और भुज्यमान आयुके बंध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। विशेष यह है कि उत्तरप्रकृतियोंमें आहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्ग व तीर्थंकर इन प्रकृतियोंको सम्यग्दृष्टि ही बांधते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं बांधते तथा देवायुकी अपेक्षा उत्कृष्ट बंध सम्यग्दृष्टिके होता है। इसी आधारपर कुछ अन्य प्रकृतियोंमें कुछ अन्तर हो जाता है।

सागरके कालका परिमाण बहुत है। इसे संख्यामें नहीं रखा जा सकता, किन्तु उपमा द्वारा जाना जा सकता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये— मानो दो कोश लंबा दो कोश चौड़ा, दो कोश गहरा गड्ढा है, उसमें अत्यन्त पतले बालोंके सूक्ष्म सूक्ष्म (जिनका दूसरा हिस्सा करना कठिन हो) टुकड़ोंको भर दिये जावें। उस भरावको खूब दावकर भरा जावे जैसे कि कई हाथी उसपर फिरा दिये गये हों। अब उसमें से १०० —१०० वर्ष बाद एक टुकड़ा निकालें। जितने वर्षोंमें सब टुकड़े निकल जावें उतने वर्षोंको तो व्यवहारपल्य कहते हैं। इससे असंख्यातगुणे कालको उद्धारपल्य कहते हैं। इससे भी असंख्यातगुणे काल को अद्धापल्य कहते हैं। १० करोड़ अद्धापल्यको एक सागर कहते हैं। एक करोड़ सागरमें एक करोड़ सागरका गुणा करनेपर जो लब्ध हो, उसे एक कोड़ाकोड़ी सागर कहते हैं। कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव यदि तीव्र मोह मिथ्यात्व करे तो उसके उस समयके उस मोह-परिणामके निमित्तसे ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका मोहनीयकर्म (मिथ्यात्व प्रकृति) बंध जाता है। जो कर्म बंध जाते हैं उनका सत्त्व तब तक रहता है जब तक उदय, उदीरणा, संक्रमण, निर्जरा अथवा क्षय नहीं हो जाता।

जीव अपनी करनीका फल स्वयं कैसे पा लेता है अथवा जीव अपनी करनीके अनुसार फल पाता है ? यह बात कर्मसिद्धान्तके माने बिना संगत नहीं बैठती। जीव शुभ अथवा अशुभ भाव करता है। उसी समय उस योग्य कर्मप्रकृतियां स्वयं बन्धको प्राप्त होती हैं व बंधनेके बाद सीमित समय तक रहती हैं। उनके उदय अथवा उदीरणा होनेपर जीव स्वयं विकारी होकर शुभभाव, अशुभभाव, सुख अथवा दुःखरूप परिणमन करता है। यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे स्वयं होता रहता है। लोकमें अनेक कार्य इस तरह होते रहते हैं। सूर्यका उदय होता है तब कमल खिल उठते हैं, लोग जाग उठते हैं, उल्लू अन्धे हो जाते हैं इत्यादि अनेक कार्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश देखे जा रहे हैं। ये कर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, आँखोंसे दिखते नहीं। अतः सहसा इनका अवबोध नहीं होता। फिर भी युक्ति, विज्ञानसे प्रसिद्ध ही है। इस जीवपर अनन्त कर्माणुओंका भार है, इसीसे ८४ लाख योनियों

उदय आवेंगे। मानो आबाधाकाल ? समय बाद उदयमें आवेंगे। सो सब उदयमें नहीं आवेंगे किन्तु उन ६३०० परमाणुओंमें से पहिले समयमें ५१२ द्वितीय समयोंमें ४८० इस तरह ३२-३२ कम होते होकर ८ वें समयमें २८८ ये उदयमें आवेंगे। फिर ९वें समयमें ३२ घटकर २५६, फिर २४०, इस तरह १६-१६ घटकर १६वें समयमें १४४ उदयमें आवेंगे। फिर १७वें समय में १६ घटकर १२८, फिर १८वें समयमें १२०, इस तरह ८-८ घटकर २४वें समयमें ७२ उदयमें आवेंगे। फिर २५वें समयमें ८ घटकर ६४, इस तरह ४-४ घटकर ३२वें समयमें ३६ उदयमें आवेंगे। फिर ३३वें समयमें ४ घटकर ३२, फिर ३०, इस तरह २-२ घटकर ४०वें समयमें १८ उदयमें आवेंगे। फिर ४१वें समयमें १६, इस तरह १-१ घटकर ४८वें समयमें ९ परमाणु उदयमें आवेंगे। यह सब दृष्टान्त है। उदय तो जब आता है अनन्त परमाणुके निषेकका उदय आता है। इस एक समयप्रबद्धके उदय योग्य निषेक ६ गुणहानिमें बट जाते हैं। यह तो प्रदेशोदयके परमाणुओंकी संख्याका दृष्टान्त है। इसमें उत्तरोत्तर समयोंमें प्रदेश कम होते गये हैं, परन्तु अनुभाग उत्तरोत्तर समयमें अधिक अधिक होता है।

प्रतिसमयके बांधे हुए कर्म इस तरहसे उदयमें अनेक बंट जाते हैं। तब किसी भी समयमें जो उदय आते हैं, वे अनेक समयोंके बांधे हुए कर्मोंमें से उदयमें आते हैं। दृष्टान्त में परमाणु व समयोंकी संख्या समझनेके लिये दी गई है। बंधते तो अनन्त परमाणु हैं और असंख्यात वर्षों तक की स्थिति बंधती है। एक समयमें बांधे हुए कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त तक भी उदयमें आते रहते हैं। सागरका प्रमाण कर्मतत्वके अधिकारोंमें लिखा गया है।

उदयका फल होना अटल है। उदयसे ही पहिले किसी आत्माके सुपरिणामोंके निमित्तसे परिवर्तन, परिनिर्जरण हो जाय तो यह अलग बात है, परन्तु उदयक्षणके समय तो उसका फल होता ही है। उदयसे एक समय पहिले भी परिवर्तन हो सकता है, जिसको कि स्तिबुक संक्रमण कहते हैं। इसकी सूक्ष्म बातका परिचय न हो या दृष्टि न दी जाय तो भले ही कह दिया जाय कि उदय भी टल जाता है, परन्तु उदयक्षणमें प्रकृतिके उदय होने पर उसका परिणाम टलता नहीं। हां यह बात और है कि उस औदयिक भावको उपयोग का बल मिल जाय तो वह भावबन्धका रूपक धारण करा देगा; यदि उपयोगका बल न मिला तो विशिष्ट कार्यका हेतु न बन सकेगा।

हे आत्मन्! इस सब नाना विचित्रताको औदयिक, औपाधिक जानो, कर्मका नाच जानो। यह सब कुछ भी तेरा स्वरूप नहीं है। इनसे विविक्त, ध्रुव निजचैतन्यस्वभावमात्र अपनेको अनुभवो। इस विधिसे कर्म स्वयं झड़ जाते हैं, संवृत हो जाते हैं, उदयकी चक्कीसे

उदय आवेंगे। मानो आबाधाकाल के समय बाद उदयमें आवेंगे। तो सब उदयमें नहीं आवेंगे किन्तु उन ६३०० परमाणुओंमें से पहिले समयमें ५१२ द्वितीय समयोंमें ४८० इस तरह ३२-३२ कम हो होकर ८ वें समय २८८ से उदयमें आवेंगे। फिर १०वें समयमें १६ घटकर २४०, फिर २२४, इस तरह १६-१६ घटकर १६वें समयमें १४४ उदयमें आवेंगे। फिर १ वें समय में ८ घटकर १२०, फिर १९वें समयमें ११२, इस तरह ८-८ घटकर २४वें समयमें ७२ उदयमें आवेंगे। फिर २६वें समयमें ४ घटकर ६०, इस तरह ४-४ घटकर ३२वें समयमें ३६ उदयमें आवेंगे। फिर ३४वें समयमें २ घटकर ३०, फिर २८, इस तरह २-२ घटकर ४०वें समयमें १८ उदयमें आवेंगे। फिर ४२वें समयमें १५, इस तरह १-१ घटकर ४८वें समयमें ९ परमाणु उदयमें आवेंगे। यह सब दृष्टान्त है। उदय तो जब आता है अनन्त परमाणुके निषेक का उदय आता है। इस एक समयप्रबद्धके उदय योग्य निषेक ६ गुणहानिमें बट जाते हैं। यह तो प्रदेशोदयके परमाणुओंकी संख्याका दृष्टान्त है। इसमें उत्तरोत्तर समयोंमें प्रदेश कम होते गये हैं, परन्तु अनुभाग उत्तरोत्तर समयमें अधिक अधिक होता है।

प्रतिसमयके बांधे हुए कर्म इस तरहसे उदयमें अनेक बंट जाते हैं। तब किसी भी समयमें जो उदय आते हैं, वे अनेक समयोंके बांधे हुए कर्मोंमें से उदयमें आते हैं। दृष्टान्त में परमाणु व समयोंकी संख्या समझनेके लिये ही दी है। बंधते तो अनन्त परमाणु हैं और असंख्यात वर्षों तक की स्थिति बंधती है। एक समयमें बांधे हुए कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त तक भी उदयमें आते रहते हैं। सागरका प्रमाण कर्मसिद्धान्तके अधिकारोंमें लिखा गया है।

उदयका फल होना अटल है। उदयसे ही पहिले किसी आत्माके शुभपरिणामोंके निमित्तसे परिवर्तन, परनिर्जरण हो जाय तो यह अलग बात है, परन्तु उदयक्षणके समय तो उसका फल होता ही है। उदयसे एक समय पहिले भी परिवर्तन हो सकता है, जिसको कि स्तिबुक संक्रमण कहते हैं। इसकी सूक्ष्म बातका परिचय न हो या दृष्टि न दी जाय तो भले ही कह दिया जाय कि उदय भी टल जाता है, परन्तु उदयक्षणमें प्रकृतिके उदय होने पर उसका परिणाम टलता नहीं। हां यह बात और है कि उस औदयिक भावको उपयोग का बल मिल जाय तो वह भावबन्धका रूपक धारण करा देगा; यदि उपयोगका बल न मिला तो विशिष्ट कार्यका हेतु न बन सकेगा।

हे आत्मन्! इस सब नाना विचित्रताको औदयिक, औपाधिक जानो, कर्मका नाच जानो। यह सब कुछ भी तेरा स्वरूप नहीं है। इनसे विविक्त, ध्रुव निजचैतन्यस्वभावमात्र अपनेको अनुभवो। इस विधिसे कर्म स्वयं झड़ जाते हैं, संवृत हो जाते हैं, उदयकी चक्कीसे

निष्टकल्पनाजन्य हर्षविषाद तथा आयुस्थिति से पहिले मरण अप्रमत्त जीवोंके नहीं होता है। अशुभ कर्मप्रकृतियोंकी उदीरणा फल देनेके रूपमें संक्लेश परिणामसे होती है। शुभप्रकृतियों की उदीरणा फल देनेके लिये विशुद्ध परिणामसे होती है, किन्तु निर्जरणके लिये यथासंभव सब प्रकृतियोंकी उदीरणा धर्मपरिणामसे होती है। हे आत्मन्! आत्माके सहजस्वभावरूप धर्मकी दृष्टि रखकर धर्मका पालन करो तो उदीरणासे भी मोक्षमार्गमें सहायता मिलेगी।

———

कर्मसंक्रमण

जीवके शुद्धभाव शुभभाव या अशुभभावके निमित्तको पाकर कर्मवर्गणायें अपने ही मौलिक कर्मकी प्रकृतिमें से किसी अन्य प्रकृतिरूप परिणम जानेको संक्रमण कहते हैं। आठ प्रकारके कर्मोंमें से केवल आयुकर्म ही ऐसा है कि जिसमें संक्रमण नहीं होता है। शेष ७ प्रकारके कर्मोंमें ही संक्रमण हो सकता है। इन सात प्रकारके कर्मोंमें भी परस्पर संक्रमण नहीं होता, किन्तु एक एक कर्मके जितने भेद हैं उन भेदोंमें ही परस्पर यथायोग्य संक्रमण होता है। जैसे वेदनीयकर्मके २ भेद हैं– (१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। इन दोनोंमें परस्पर संक्रमण हो जाता है। कभी अशुभ परिणामके निमित्तसे साता असातारूप परिणम जाती है, कभी शुभपरिणामके निमित्तसे असाता सातारूप परिणम जाती है, कहीं शुद्ध परिणामके निमित्तसे भी असाता प्रकृति सातारूप परिणम जाती है इत्यादि। इसी प्रकार यथासंभव प्रत्येक कर्मके भेदोंमें समझना चाहिये।

संक्रमणके भेद ५ हैं। वे भेद भागहारकी प्रधानतासे हैं। जैसे–(१) उद्वेलनसंक्रमण–जहां उद्वेलन भागहारका भाग देनेपर एकभागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं वह उद्वेलन संक्रमण है। (२) विध्यातसंक्रमण–जहां मंद विशुद्धतायुक्त जीवके जिस प्रकृतिका बंध नहीं पाया जाय, ऐसी विवक्षित प्रकृतिके परमाणुओंमें विध्यात भागहारका भाग देने पर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमते हैं वह विध्यातसंक्रमण है। (३) अधःप्रवृत संक्रमण–जहाँ, जिस प्रकृतिका बंध संभव है उस जातिकी प्रकृतिके परमाणुवोंमें अधःप्रवृत्तभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिके परमाणुरूप परिणमते हैं, उसे अधःप्रवृत्तसंक्रमण कहते हैं। (४) जहाँ विवक्षित अशुभप्रकृतिके परमाणुवोंमें गुणसंक्रमणभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमें और प्रथम समयमें जितने परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमें हैं उससे असंख्यातगुणी दूसरे समयमें अन्यप्रकृतिरूप परिणमें, उससे असंख्यातगुणी तीसरे समयमें परिणमें, ऐसा गुणकार बने उसे गुणसंक्रमण कहते हैं। (५) गुणसंक्रमण होते होते अन्तमें जो एक फालिरूप (अन्तिम समयके निषेक) अवशिष्ट रहता है, वह साराका सारा अन्य प्रकृतिरूप

निष्टकल्पनाजन्य हर्षविषाद तथा आयुस्थितिसे पहिले मरण अप्रमत्त जीवोंके नहीं होता है। अशुभ कर्मप्रकृतियोंकी उदीरणा फल देनेके रूपमें संक्लेश परिणामसे होती है। शुभप्रकृतियों की उदीरणा फल देनेके लिये विशुद्ध परिणामसे होती है, किन्तु निर्जरणके लिये यथासंभव सब प्रकृतियोंकी दीरणा धर्मपरिणामसे होती है। हे आत्मन्! आत्माके सहजस्वभावरूप धर्मकी दृष्टि रखकर धर्मका पालन करो तो उदीरणासे भी मोक्षमार्गमें सहायता मिलेगी।

———

कर्म संक्रमण

जीवके शुद्धभाव शुभभाव या अशुभभावके निमित्तको पाकर कर्मवर्गणायें अपने ही मौलिक कर्मकी प्रकृतिमें से किसी अन्य प्रकृतिरूप परिणम जानेको संक्रमण कहते हैं। आठ प्रकारके कर्मोंमें से केवल आयुकर्म ही ऐसा है कि जिसमें संक्रमण नहीं होता है। शेष ७ प्रकारके कर्मोंमें ही संक्रमण हो सकता है। इन सात प्रकारके कर्मोंमें भी परस्पर संक्रमण नहीं होता, किन्तु एक एक कर्मके जितने भेद हैं उन भेदोंमें ही परस्पर यथायोग्य संक्रमण होता है। जैसे वेदनीयकर्मके २ भेद हैं– (१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। इन दोनोंमें परस्पर संक्रमण हो जाता है। कभी अशुभ परिणामके निमित्तसे साता असातारूप परिणाम जाती है, कभी शुभपरिणामके निमित्तसे असाता सातारूप परिणम जाती है, कहीं शुद्ध परिणामके निमित्तसे भी असाता प्रकृति सातारूप परिणम जाती है इत्यादि। इसी प्रकार यथासंभव प्रत्येक कर्मके भेदोंमें समझना चाहिये।

संक्रमणके भेद ५ हैं। वे भेद भागहारकी प्रधानतासे हैं। जैसे–(१) उद्वेलनसंक्रमण– जहां उद्वेलन भागहारका भाग देनेपर एकभागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं वह उद्वेलन संक्रमण है। (२) विध्यातसंक्रमण–जहाँ मंद विशुद्धतायुक्त जीवके जिस प्रकृतिका बंध नहीं पाया जाय, ऐसी विवक्षित प्रकृतिके परमाणुओंमें विध्यात भागहारका भाग देने पर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमते हैं वह विध्यातसंक्रमण है। (३) अधःप्रवृत संक्रमण–जहाँ, जिस प्रकृतिका बंध संभव है उस जातिकी प्रकृतिके परमाणुवोंमें अधःप्रवृत्तभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिके परमाणुरूप परिणमते हैं, उसे अधःप्रवृत्तसंक्रमण कहते हैं। (४) जहाँ विवक्षित अशुभप्रकृतिके परमाणुवोंमें गुणसंक्रमणभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमें और प्रथम समयमें जितने परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमें हैं उससे असंख्यातगुणी दूसरे समयमें अन्यप्रकृतिरूप परिणमें, उससे असंख्यातगुणी तीसरे समयमें परिणमें, ऐसा गुणकार बने उसे गुणसंक्रमण कहते हैं। (५) गुणसंक्रमण होते होते अन्तमें जो एक फालिरूप (अन्तिम समयके निषेक) अवशिष्ट रहता है, वह साराका सारा अन्य प्रकृतिरूप

जितने अनुभागवाला उस कर्मप्रकृतिको बनना है वह उतने अनुभागवाले सजातीय प्रकृतिको वर्गणाओंमें वह कर्मप्रकृति मिल जावेगी। नीचेकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियाँ किस किस प्रकारसे ऊँची स्थितिवाली होती हैं ? इसके जाननेके लिये निक्षेप, अतिस्थापना, अचलावलि, अतिस्थापनावलि उत्कर्षणके लिये अपकृष्ट द्रव्यको नजर रखकर कर्मापकर्षणपद्धतिकी तरह समझना चाहिये। इस पद्धतिको कर्मापकर्षण वाले अगले पाठमें दिखाया जावेगा। अन्तर केवल इतना है कि अपकर्षणमें तो ऊपरकी स्थितिका द्रव्य नीचेकी स्थितिमें मिलाया जाता है और उत्कर्षणमें नीचेकी स्थितिका द्रव्य ऊपरकी स्थितिमें मिलाया जाता है।

संक्लेश परिणामका निमित्त पाकर अशुभ कर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है और विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर यथासंभव शुभ प्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है। कर्म एक उस जातिका पौद्गलिक अणुवोंका स्कन्ध है। बद्धकर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण कर्मकी योग्यतासे स्वयं हो जाता है, किन्तु चूँकि ये उत्कर्षणादि परिणमन स्वभावपरिणमन नहीं हैं, अतः किसी उपाधिको निमित्त पाकर ही होते हैं। वह उपाधि है यहां जीवके विभाव परिणाम। कर्मोत्कर्षण अशुद्धभावोंके निमित्तसे होता है। अतः सुखार्थियोंका कर्तव्य है कि परका आश्रय करनेरूप अशुद्ध परिणामोंसे दूर हों ताकि कर्मोत्कर्षण न हो व अनन्तसंसार न बढ़े।

कर्मापकर्षण

जीवके शुभ या अशुभ या शुद्ध भावोंको निमित्त पाकर कर्मवर्गणावोंकी स्थितिका या अनुभागका कम हो जाना सो कर्मापकर्षण है। कर्मापकर्षण भी दो प्रकारका है—(१) कर्मस्थिति-अपकर्षण, (२) कर्मानुभाग अपकर्षण। कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है, उससे कम स्थिति हो जानेको कर्मस्थितिअपकर्षण कहते हैं और कर्मप्रकृतियोंमें जितना अनुभाग है उससे कम अंशोंका अनुभाग हो जानेको कर्मानुभागापकर्षण कहते हैं। कर्मस्थिति-अपकर्षणकी यह पद्धति है कि कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है उससे कम होकर उन्हें जितनी स्थितिवाला बनना है वे उतनी ही स्थितिवाले सजातीय कर्मप्रकृतियोंकी वर्गणाओंमें मिल जाती हैं। इसी प्रकार कर्मानुभागापकर्षणकी भी यह पद्धति है कि जितना कर्मप्रकृतियोंमें अनुभाग है उससे कम होकर जितना अनुभागवावाला उन्हें होना है, उतने अनुभागवाले सजातीय कर्मप्रकृतिकी वर्गणाओंमें वे मिल जाती हैं।

ऊपरकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियाँ किस प्रकार नीचेकी स्थितिमें मिलती है ? इसकी पद्धति दिखाई जाती है—कर्मबन्धके अनन्तर एक आवलि कालमें तो अपकर्षण होता नहीं, इस कालको अचलावलि कहते हैं। इसके बाद उदयावलि आती है। इसमें उन्हीं उपरितन

जितने अनुभागवाला उस कर्मप्रकृतिको बनना है वह उतने अनुभागवाले सजातीय प्रकृतिको वर्गणाओंमें वह कर्मप्रकृति मिल जावेगी। नीचेकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियाँ किस किस प्रकारसे ऊँची स्थितिवाली होती हैं ? इसके जाननेके लिये निक्षेप, अतिस्थापना, अचलावलि, अतिस्थापनावलि उत्कर्षणके लिये अपकृष्ट द्रव्यको नजर रखकर कर्मापकर्षणपद्धतिकी तरह समझना चाहिये। इस पद्धतिको कर्मापकर्षण वाले अगले पाठमें दिखाया जावेगा। अन्तर केवल इतना है कि अपकर्षणमें तो ऊपरकी स्थितिका द्रव्य नीचेकी स्थितिमें मिलाया जाता है और उत्कर्षणमें नीचेकी स्थितिका द्रव्य ऊपरकी स्थितिमें मिलाया जाता है।

संक्लेश परिणामका निमित्त पाकर अशुभ कर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है और विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर यथासंभव शुभ प्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है। कर्म एक उस जातिका पौद्गलिक अणुवोंका स्कन्ध है। बद्धकर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण कर्मकी योग्यतासे स्वयं हो जाता है, किन्तु चूंकि ये उत्कर्षणादि परिणमन स्वभावपरिणमन नहीं हैं, अतः किसी उपाधिको निमित्त पाकर ही होते हैं। वह उपाधि है यहां जीवके विभाव परिणाम। कर्मोत्कर्षण अशुद्धभावोंके निमित्तसे होता है। अतः सुखार्थियोंका कर्तव्य है कि परका आश्रय करनेरूप अशुद्ध परिणामोंसे दूर हों ताकि कर्मोत्कर्षण न हो व अनन्तसंसार न बढ़े।

कर्मापकर्षण

जीवके शुभ या अशुभ या शुद्ध भावोंको निमित्त पाकर कर्मवर्गणावोंकी स्थितिका या अनुभागका कम हो जाना सो कर्मापकर्षण है। कर्मापकर्षण भी दो प्रकारका है— (१) कर्मस्थिति-अपकर्षण, (२) कर्मानुभाग अपकर्षण। कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है, उससे कम स्थिति हो जानेको कर्मस्थितिअपकर्षण कहते हैं और कर्मप्रकृतियोंमें जितना अनुभाग है उससे कम अंशोंका अनुभाग हो जानेको कर्मानुभागापकर्षण कहते हैं। कर्मस्थिति-अपकर्षणकी यह पद्धति है कि कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है उससे कम होकर उन्हें जितनी स्थितिवाला बनना है वे उतनी ही स्थितिवाले सजातीय कर्मप्रकृतियोंकी वर्गणाओंमें मिल जाती हैं। इसी प्रकार कर्मानुभागापकर्षणकी भी यह पद्धति है कि जितना कर्मप्रकृतियोंमें अनुभाग है उससे कम होकर जितना अनुभागवावाला उन्हें होना है, उतने अनुभागवाले सजातीय कर्मप्रकृतिकी वर्गणाओंमें वे मिल जाती हैं।

ऊपरकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियाँ किस प्रकार नीचेकी स्थितिमें मिलती है ? इसकी पद्धति दिखाई जाती है—कर्मबन्धके अनन्तर एक आवलि कालमें तो अपकर्षण होता नहीं, इस कालको अचलावलि कहते हैं। इसके बाद उदयावलि आती है। इसमें उन्हीं उपरितन

जानेको कर्मबन्धापसरण कहते हैं। बन्ध रुक जानेका नाम बन्धव्युच्छित्ति भी है, परन्तु बन्धव्युच्छित्ति व बन्धापसरणमें यह अन्तर है कि जिस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति जिस पद (गुणस्थान) में होती है उस प्रकृतिका बन्ध उससे आगे किसी भी गुणस्थानमें नहीं होता है और जिस प्रकृतिका जिस पदमें (गुणस्थानमें) बन्धापसरण होता है उसका उस भावके विलय हो जानेपर उसी पद (गुणस्थान) में बंध हो सकता है तथा उनमें से अनेक प्रकृतियोंका जिनकी कि बन्धव्युच्छित्ति उस गुणस्थानमें नहीं हुई, अगले गुणस्थानमें भी बन्ध हो सकता है।

कर्मबन्धापसरणका वर्णन सम्यक्त्वके सन्मुख हुए मिथ्यादृष्टि जीवके सम्बन्धमें आया । वह इस प्रकारसे है– प्रायोग्यलब्धिमें जो विशुद्ध परिणाम होते है उसको निमित्त पाकर ी लब्धिमें उत्तरोत्तर स्थितिबन्ध कम होते रहते हैं, जिसमें पल्यके संख्यातवें भाग कम थतिबंध होते जाते हैं। जब स्थितिबन्ध पृथक्त्व (३ से ६) सागर कम हो जाता है तब रकायु प्रकृतिबन्धापसरण होता है तथा उसी क्रमसे घटते घटते जब पृथक्त्व सौ सागर र कम हो जाती है, तब तिर्यगायु प्रकृतिका बन्धापसरण हो जाता है। इस तरह ३४ धापसरण होते हैं।

इसी तरह जिन जिन गुणस्थानोंमें जिन जिन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती हैं, नका स्थितिबन्धापसरण होता रहता है। इस तरह स्थितिबन्धापसरण होते होते उस णस्थानके अन्तमें उस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। बन्धव्युच्छित्ति होनेपर उसके गेके गुणस्थानोंमें फिर बन्ध नहीं होता है, किन्तु सम्यक्त्वके अभिमुख सातिशय मिथ्या-ष्ट जीवके जो प्रकृतिबन्धापसरण होता है, उनमें से अनेक प्रकृतितोंका बन्ध सम्यक्त्व नेपर भी छठे गुणस्थान तकके नीचे गुणस्थानोंमें यथासंभव हो जाता है। अतः उन्हें धापसरणके नामसे ही आगममें कहा है, बन्धव्युच्छित्तिके नामसे नहीं।

प्रकृति बन्धापसरण होनेके लिये स्थितिबन्धापसरण होना आवश्यक है। स्थिति-न्धापसरण हो होकर ही प्रकृतिबन्धका अपसरण (विच्छेद) होता है। कर्मबन्धापसरण द्यपि सातिशयमिथ्यादृष्टिके होता है व किन्हीं किन्हीं बन्धापसरणोंका तो यह हाल है कि म्यक्त्व होनेपर कुछ गुणस्थान तक कर्मबन्ध भी होता है तो भी कर्मबन्धापसरण भलेके लिये है। अतः उस योग्य विशुद्ध परिणाम रखना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

कर्मोपशम

आत्माके विशिष्ट निर्मल परिणामको निमित्त पाकर आगेकी स्थितिवाले कर्मवर्गणावों ो उदीरणा न हो सकनेको कर्मोपशम कहते हैं। यह उपशम दो प्रकारका है—(१) प्रश-

जानेको कर्मबन्धापसरण कहते हैं। बन्ध रुक जानेका नाम बन्धव्युच्छित्ति भी है, परन्तु बन्धव्युच्छित्ति व बन्धापसरणमें यह अन्तर है कि जिस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति जिस पद (गुणस्थान) में होती है उस प्रकृतिका बन्ध उससे आगे किसी भी गुणस्थानमें नहीं होता है और जिस प्रकृतिका जिस पदमें (गुणस्थानमें) बन्धापसरण होता है उसका उस भावके विलय हो जानेपर उसी पद (गुणस्थान) में बंध हो सकता है तथा उनमें से अनेक प्रकृतियोंका जिनकी कि बन्धव्युच्छित्ति उस गुणस्थानमें नहीं हुई, अगले गुणस्थानमें भी बन्ध हो सकता है।

कर्मबन्धापसरणका वर्णन सम्यक्त्वके सन्मुख हुए मिथ्यादृष्टि जीवके सम्बन्धमें आया। वह इस प्रकारसे है– प्रायोग्यलब्धिमें जो विशुद्ध परिणाम होते है उसको निमित्त पाकर ी लब्धिमें उत्तरोत्तर स्थितिबन्ध कम होते रहते हैं, जिसमें पल्यके संख्यातवें भाग कम थतिबंध होते जाते हैं। जब स्थितिबन्ध पृथक्त्व (३ से ९) सागर कम हो जाता है तब रकायु प्रकृतिबन्धापसरण होता है तथा उसी क्रमसे घटते घटते जब पृथक्त्व सौ सागर र कम हो जाती है, तब तिर्यगायु प्रकृतिका बन्धापसरण हो जाता है। इस तरह ३४ धापसरण होते हैं।

इसी तरह जिन जिन गुणस्थानोंमें जिन जिन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती हैं, नका स्थितिबन्धापसरण होता रहता है। इस तरह स्थितिबन्धापसरण होते होते उस गस्थानके अन्तमें उस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। बन्धव्युच्छित्ति होनेपर उसके गेके गुणस्थानोंमें फिर बन्ध नहीं होता है, किन्तु सम्यक्त्वके अभिमुख सातिशय मिथ्या- ष्ट जीवके जो प्रकृतिबन्धापसरण होता है, उनमें से अनेक प्रकृतितोंका बन्ध सम्यक्त्व नेपर भी छठे गुणस्थान तकके नीचे गुणस्थानोंमें यथासंभव हो जाता है। अतः उन्हें धापसरणके नामसे ही आगममें कहा है, बन्धव्युच्छित्तिके नामसे नहीं।

प्रकृति बन्धापसरण होनेके लिये स्थितिबन्धापसरण होना आवश्यक है। स्थिति- न्धापसरण हो होकर ही प्रकृतिबन्धका अपसरण (विच्छेद) होता है। कर्मबन्धापसरण द्यपि सातिशयमिथ्यादृष्टिके होता है व किन्हीं किन्हीं बन्धापसरणोंका तो यह हाल है कि म्यक्त्व होनेपर कुछ गुणस्थान तक कर्मबन्ध भी होता है तो भी कर्मबन्धापसरण भलेके लिये है। अतः उस योग्य विशुद्ध परिणाम रखना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

कर्मोपशम

आत्माके विशिष्ट निर्मल परिणामको निमित्त पाकर आगेकी स्थितिवाले कर्मवर्गणावों ो उदीरणा न हो सकनेको कर्मोपशम कहते हैं। यह उपशम दो प्रकारका है—(१) प्रश-

र्वक विपाक निर्जरा मंदकषाय अथवा तीव्रकषायके निमित्तसे होती है । मंदकषायके निमित्त से वह निर्जरा हो तो आगामी कालमें उदय आनेवाली अनेक शुभ प्रकृतियाँ शीघ्र फल देनेके लिये पहिले आकर खिर जाती हैं व उस समय अन्य शुभ बन्धन हो जाता है । तीव्रकषायके निमित्तसे वह निर्जरा हो तो आगामी कालमें उदयमें आनेवाली अनेक अशुभ प्रकृतियाँ शीघ्र फल देनेके लिये पहिले आकर खिर जाती हैं ।

अविपाक निर्जरामें साक्षात् उदयरूप तो उसका होता है जो अपकर्षण योग्य संक्रमण आदि विधियोंसे चलकर अन्तमें प्रायः पूर्णसत्ता नाशके लिये जो उदयरूप आता है और संक्रमणपूर्वक निर्जरा गुणश्रेणि, संक्रमण अधःस्थितिगलन आकर्षण आदि विधियोंसे कृश व संक्रान्त होकर उदीरणारूप होती हैं । जिन निषेकोंमें ये प्रदेश मिलते हैं उनमें पहिले समयमें मिलनेवाले द्रव्यको प्रथम फालि, द्वितीय समयमें मिलनेवाले द्रव्यको द्वितीयफालि, इसी तरह अन्य फालि जानना । अन्तिम समयमें मिलनेवाले द्रव्यको अन्तिमफालि द्रव्य कहते हैं । निर्जीर्यमाण द्रव्य कितने कितने प्रमाणमें उत्तरोत्तर समयोंमें मिलाया जाता है ? कहीं तो अधिक अधिक और कहीं गुणश्रेणीरूप अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यातगुणाके रूपमें मिलाया जाता है ।

कर्मस्थितिनिर्जरा

आत्माके शुद्ध परिणामोंके निमित्तसे पौद्गलिक कर्मोंकी स्थितिका क्षरण हो जाना सो कर्मस्थितिनिर्जरा है । कर्मोंकी स्थितिकी निर्जरा इस प्रकार होती है कि स्थिति कम होकर जितनी स्थितिके रहना हो, उस स्थितिवाले निषेकोंमें वे मिल जाते हैं । इस निर्जरामें कुछ लगातारकी स्थितियोंसे निर्जीर्यमाणकर्म प्रकृतियां मिलती जाती हैं । जैसे कर्मोंकी बहुत अधिक स्थिति है । उनमें निषेक (समय समयमें उदय आने योग्य परमाणु समूह) बहुत अधिक हैं ही । सम्यक्त्व व चारित्र परिणामके बलसे उनमें से उदयावलिसे आवलिके ऊपरके निषेक वर्तमान समयसे ऊपर आवलिके प्रायः एक त्रिभागको छोड़कर बाकी दो भागोंके निषेकमें मिलते हैं । फिर इस विधानके बाद एक एक समय अधिक ऊपर के निषेकमें मिलते हैं । इस तरह मिलते-मिलते अन्तिम आवलिसे नीचेके निषेकोंमें मिल जाते हैं । जितने स्थितिके निषेक जितने कम स्थितिके निषेकमें मिले तो जिनमें मिले उनकी जो आखिरी स्थिति है उतनी स्थिति कहलाने लगती है । अब जितनी स्थिति घट गई उतनी स्थितिकी निर्जरा कहलाने लगती है ।

एक यत्नमें जितनी स्थितिका नाश हुआ उतने पूर्ण एक भागको स्थितिकाण्डक (स्थितिखण्ड) कहते हैं । एक स्थितिकाण्डकमें जितनी स्थिति घटी उतने स्थितिसमयोंको स्थितिकाण्डकायाम कहते हैं । ये निषेक जिन निषेकोंमें मिलते हैं उन्हें निक्षेप कहते हैं व

र्वक विपाक निर्जरा मंदकषाय अथवा तीव्रकषायके निमित्तसे होती है। मंदकषायके निमित्त वह निर्जरा हो तो आगामी कालमें उदय आनेवाली अनेक शुभ प्रकृतियाँ शीघ्र फल देनेके लिये पहिले आकर खिर जाती हैं व उस समय अन्य शुभ बन्धन हो जाता है। तीव्रकषायके निमित्तसे वह निर्जरा हो तो आगामी कालमें उदयमें आनेवाली अनेक अशुभ प्रकृतियाँ शीघ्र फल देनेके लिये पहिले आकर खिर जाती हैं।

अविपाक निर्जरामें साक्षात् उदयरूप तो उसका होता है जो अपकर्षण योग्य संक्रमण आदि विधियोंसे चलकर अन्तमें प्रायः पूर्णसत्ता नाशके लिये जो उदयरूप आता है और संक्रमणपूर्वक निर्जरा गुणश्रेणि, संक्रमण अधःस्थितिगलन आकर्षण आदि विधियोंसे कृश व संक्रान्त होकर उदीरणारूप होती हैं। जिन निषेकोंमें ये प्रदेश मिलते हैं उनमें पहिले समयमें मिलनेवाले द्रव्यको प्रथम फालि, द्वितीय समयमें मिलनेवाले द्रव्यको द्वितीयफालि, इसी तरह अन्य फालि जानना। अन्तिम समयमें मिलनेवाले द्रव्यको अन्तिमफालि द्रव्य कहते हैं। निर्जीर्यमाण द्रव्य कितने कितने प्रमाणमें उत्तरोत्तर समयोंमें मिलाया जाता है? कहीं तो अधिक अधिक और कहीं गुणश्रेणीरूप अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यातगुणाके रूपमें मिलाया जाता है।

कर्मस्थितिनिर्जरा

आत्माके शुद्ध परिणामोंके निमित्तसे पौद्गलिक कर्मोंकी स्थितिका क्षरण हो जाना सो कर्मस्थितिनिर्जरा है। कर्मोंकी स्थितिकी निर्जरा इस प्रकार होती है कि स्थिति कम होकर जितनी स्थितिके रहना हो, उस स्थितिवाले निषेकोंमें वे मिल जाते हैं। इस निर्जरामें कुछ लगातारकी स्थितियोंसे निर्जीर्यमाणकर्म प्रकृतियां मिलती जाती हैं। जैसे कर्मोंकी बहुत अधिक स्थिति है। उनमें निषेक (समय समयमें उदय आने योग्य परमाणु समूह) बहुत अधिक हैं ही। सम्यक्त्व व चारित्र परिणामके बलसे उनमें से उदयावलिसे आवलिके ऊपरके निषेक वर्तमान समयसे ऊपर आवलिके प्रायः एक त्रिभागको छोड़कर बाकी दो भागोंके निषेकमें मिलते हैं। फिर इस विधानके बाद एक एक समय अधिक ऊपर के निषेकमें मिलते हैं। इस तरह मिलते-मिलते अन्तिम आवलिसे नीचेके निषेकोंमें मिल जाते हैं। जितने स्थितिके निषेक जितने कम स्थितिके निषेकमें मिले तो जिनमें मिले उन-की जो आखिरी स्थिति है उतनी स्थिति कहलाने लगती है। अब जितनी स्थिति घट गई उतनी स्थितिकी निर्जरा कहलाने लगती है।

एक यत्नमें जितनी स्थितिका नाश हुआ उतने पूर्ण एक भागको स्थितिकाण्डक (स्थितिखण्ड) कहते हैं। एक स्थितिकाण्डकमें जितनी स्थिति घटी उतने स्थितिसमयोंको स्थितिकाण्डकायाम कहते हैं। ये निषेक जिन निषेकोंमें मिलते हैं उन्हें निक्षेप कहते हैं व

वस्तुका आघात आदि हुआ तो उस निमित्तको पाकर चैन टूट गई। लो, अब घड़ी एक दिन ही चलकर बन्द हो गई अथवा जैसे मोटरमें एक गेलन पेट्रोल देनेपर मीटर बीस मील जाती है, उस मोटरको ५ मील जानेपर किसी प्रकार एक वृक्षसे आघात हुआ, टङ्की फट गई, पेट्रोल सब गिर गया। लो अब मोटर ५ मील चलकर ही बन्द हो गई। इसी तरह विष-भक्षण, रोग, शस्त्रघात आदिको निमित्त पाकर आयुकर्मके शेष निषेक बीचमें ही खिर जाते हैं तो यह अकालमृत्यु हो गई।

अकालमृत्यु व सर्वज्ञज्ञान—ये दो दृष्टियाँ हैं। सर्वज्ञज्ञानकी ओरसे वितर्क करो तो जब जो देखा जाना गया वह तब हुआ। इससे असमय होनेको कुछ नहीं है। विज्ञानपद्धति का अनुसरण करो तो अकाल मृत्यु आदि जब जैसे जिस विधानसे होते-होते हो जाते हैं।

अकालमृत्यु देवों, नारकियों, भोगभूमियों, मनुष्यतिर्यञ्चों व चरमशरीरियोंके नहीं होती है। इस विधिनिषेधसे भी अकालमृत्यु सिद्ध हुई। इस स्थितिनिर्जराको उदीरणामरण कहते हैं। उदीरणामरण न होना मोक्षमार्गियोंकी बात है। उस योग्य रत्नत्रयपरिणाम होना कल्याणकी बात है।

कर्मविपाकनिर्जरा

कर्मवर्गणाओंमें जो कि कर्मरूप हुई हैं, उनमें फल देनेकी (व्यवहारतः) शक्ति है। उस फलदानशक्तिके अंश जब निर्जरित होते हैं याने कम होते हैं उसे विपाकनिर्जरा कहते हैं। इसके निर्जराकी पद्धति भी स्थितिनिर्जराकी तरह है। एक यत्नमें जितने अनुभागस्पर्द्धक (फलदानशक्ति) का नाश करना है उनके समूहरूप एक भागको अनुभागकाण्डक कहते हैं। एक काण्डमें जितना अनुभाग नष्ट हुआ उसे अनुभाग काण्डकायाम कहते हैं। एक काण्डकको नीचले अनुभागस्पर्द्धकोंमें मिला देनेको अनुभागकाण्डकोत्करण कहते हैं। यह संक्रमण जब तक होता है उतने समयको अनुभागकाण्डकोत्करणकाल कहते हैं। ऐसे अनेक अनुभागकाण्डकघात होते हैं, जिनके कारण अनुभागकी निर्जरा होती है। इसी प्रसंगमें विशुद्धताकी वृद्धि होनेपर अनुभागकाण्डकघात तो बन्द हो जाता है और अनुसमयापवर्तन होने लगता है, जिससे अब प्रतिसमय अनन्तगुणा अनुभाग नष्ट होने लगता है।

अनुभागनिर्जरामें भी वही पद्धति है जो स्थितिनिर्जरामें है; अन्तर यह है कि अनुभागनिर्जरामें तो आयाम अनुभागके अंशोंका लेना होता है और स्थितिनिर्जरामें तो आयाम कालस्थितिके समयोंका लेना होता है। अनुभागनिर्जरा हो चुकनेपर प्रकृति भी नहीं ठहर सकती, क्योंकि जिसमें कुछ अनुभाग ही नहीं वह किस जातिकी प्रकृति कहलावेगी ?

वस्तुका आघात आदि हुआ तो उस निमित्तको पाकर चैन टूट गई। लो, अब घड़ी एक दिन ही चलकर बन्द हो गई अथवा जैसे मोटरमें एक गेलन पेट्रोल देनेपर मीटर वीस मील जाती है, उस मोटरको ५ मील जानेपर किसी प्रकार एक वृक्षसे आघात हुआ, टङ्की फट गई, पेट्रोल सब गिर गया। लो अब मोटर ५ मील चलकर ही बन्द हो गई। इसी तरह विष-भक्षण, रोग, शस्त्रघात आदिको निमित्त पाकर आयुकर्मके शेष निषेक वीचमें ही खिर जाते हैं तो यह अकालमृत्यु हो गई।

अकालमृत्यु व सर्वज्ञज्ञान—ये दो दृष्टियाँ हैं। सर्वज्ञज्ञानकी ओरसे वितर्क करो तो जब जो देखा जाना गया वह तब हुआ। इससे असमय होनेको कुछ नहीं है। विज्ञानपद्धति का अनुसरण करो तो अकाल मृत्यु आदि जब जैसे जिस विधानसे होते-होते हो जाते हैं।

अकालमृत्यु देवों, नारकियों, भोगभूमियों, मनुष्यतिर्यञ्चों व चरमशरीरियोंके नहीं होती है। इस विधिनिषेधसे भी अकालमृत्यु सिद्ध हुई। इस स्थितिनिर्जराको उदीरणामरण कहते हैं। उदीरणामरण न होना मोक्षमार्गियोंकी बात है। उस योग्य रत्नत्रयपरिणाम होना कल्याणकी बात है।

कर्मविपाकनिर्जरा

कर्मवर्गणाओंमें जो कि कर्मरूप हुई हैं, उनमें फल देनेकी (व्यवहारतः) शक्ति है। उस फलदानशक्तिके अंश जब निर्जरित होते हैं याने कम होते हैं उसे विपाकनिर्जरा कहते हैं। इसके निर्जराकी पद्धति भी स्थितिनिर्जराकी तरह है। एक यत्नमें जितने अनुभागस्पर्द्धक (फलदानशक्ति) का नाश करना है उनके समूहरूप एक भागको अनुभागकाण्डक कहते हैं। एक काण्डमें जितना अनुभाग नष्ट हुआ उसे अनुभाग काण्डकायाम कहते हैं। एक काण्डकको नीचले अनुभागस्पर्द्धकोंमें मिला देनेको अनुभागकाण्डकोत्करण कहते हैं। यह संक्रमण जब तक होता है उतने समयको अनुभागकाण्डकोत्करणकाल कहते हैं। ऐसे अनेक अनुभागकाण्डकघात होते हैं, जिनके कारण अनुभागकी निर्जरा होती है। इसी प्रसंगमें विशुद्धताकी वृद्धि होनेपर अनुभागकाण्डकघात तो बन्द हो जाता है और अनुसमयापवर्तन होने लगता है, जिससे अब प्रतिसमय अनन्तगुणा अनुभाग नष्ट होने लगता है।

अनुभागनिर्जरामें भी वही पद्धति है जो स्थितिनिर्जरामें है; अन्तर यह है कि अनुभागनिर्जरामें तो आयाम अनुभागके अंशोंका लेना होता है और स्थितिनिर्जरामें तो आयाम कालस्थितिके समयोंका लेना होता है। अनुभागनिर्जरा हो चुकनेपर प्रकृति भी नहीं ठहर सकती, क्योंकि जिसमें कुछ अनुभाग ही नहीं वह किस जातिकी प्रकृति कहलावेगी ?

कर्मक्षयोपशम

कर्मकी उस अवस्थाको क्षयोपशम कहते हैं, जिसके निमित्तसे जीवके पूरे रूपसे गुण तो न घटते जावें, किन्तु कुछ अंश प्रकट रहें और कुछ अंश प्रकट न रहें। जैसे—मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम दृष्टान्तके लिये लें—मतिज्ञानावरण प्रकृतिमें जितने स्पर्द्धक (कर्मवर्गणाओंका समूह) हैं उनमें कुछ तो सर्वघाती स्पर्द्धक हैं और कुछ देशघाती स्पर्द्धक हैं; उनमें से वर्तमानस्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका तो उदयाभावी क्षय हो और आगामी स्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम हो और देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय हो तो ऐसी अवस्थाको मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम कहते हैं। मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञान प्रकट होता है। यहाँ सर्वघाती स्पर्द्धकोंका (वर्तमानके) उदयाभावी क्षय है। इस कारण ज्ञानगुणका पूर्णघात नहीं होता, आगामी सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम है। इसलिये ज्ञान गुणका पूर्ण घात नहीं होता, देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय है। अतः कुछ अंशोंमें ज्ञानगुण प्रकट रहता है। उदयाभावी क्षयका अर्थ है-उदयमें आकर निष्फल खिर जाना। उपशमका अर्थ है—उदय या उदीरणामें न आ सकना। इसी प्रकार यथासंभव प्रकृतियोंमें लगा लेना। सम्यग्मिथ्यात्व नामका भाव भी क्षायोपशमिक भाव है। वह सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे होता है। इस प्रकृतिका उदय ही क्षयोपशमतुल्य है, क्योंकि इसके उदयमें न तो सम्यक्त्व होता है और न सम्यक्त्वका पूर्णघात होता है। अणुव्रतभाव भी क्षायोपशमिक है। उसके वर्णनके दो प्रकार हैं— (१) अप्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षयसे व आगामी उदयमें आ सकने वाले उन्हींके उपशमसे तथा प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत भाव होता है। यहां अणुव्रतके लिये प्रत्याख्यानावरण देशघातीके तुल्य है। (२) पूर्वकषाय रहित जीवके प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत होता है। इस प्रकार महाव्रतको भी जानना अर्थात् उसके भी २ प्रकार वर्णित हैं— [१] प्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षय व उपशमसे तथा संज्वलनकषायके उदयसे महाव्रतरूप क्षायोपशमिक भाव होता है। [२] पूर्वकषाय रहित जीवके संज्वलन कषायके उदयसे महाव्रत भाव होता है। महाव्रत भी क्षायोपशमिक भाव है। इत्यादि प्रकारसे क्षयोपशमके नाना प्रकार होकर भी क्षायोपशमका जो मूल लक्षण है कि गुणका पूर्णघात तो न हो, किन्तु कुछ अंश प्रकट हो—इसका विघात नहीं होता।

जीवके कल्याणके लिये प्रथम ही प्रथम क्षायोपशमिक भाव ही सहायक होता है। जो ज्ञान भेददृष्टिका कारण बनता है वह क्षायोपशमिक ही तो है। कर्मका क्षयोपशम जीवके गुणको प्रकट नहीं करता, किन्तु ऐसा ही सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि प्रकृतिका क्षयोपशम होनेके समय जीवमें उसके अनुरूप गुण व्यक्ति होती है। जीवके गुणोंके इस

कर्मक्षयोपशम

कर्मकी उस अवस्थाको क्षयोपशम कहते हैं, जिसके निमित्तसे जीवके पूरे रूपसे गुण तो न घटते जावें, किन्तु कुछ अंश प्रकट रहें और कुछ अंश प्रकट न रहें। जैसे—मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम दृष्टान्तके लिये लें—मतिज्ञानावरण प्रकृतिमें जितने स्पर्द्धक (कर्मवर्गणाओंका समूह) हैं उनमें कुछ तो सर्वघाती स्पर्द्धक हैं और कुछ देशघाती स्पर्द्धक हैं; उनमें से वर्तमानस्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका तो उदयाभावी क्षय हो और आगामी स्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम हो और देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय हो तो ऐसी अवस्थाको मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम कहते हैं। मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञान प्रकट होता है। यहाँ सर्वघाती स्पर्द्धकोंका (वर्तमानके) उदयाभावी क्षय है। इस कारण ज्ञानगुणका पूर्णघात नहीं होता, आगामी सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम है। इसलिये ज्ञान गुणका पूर्ण घात नहीं होता, देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय है। अतः कुछ अंशोंमें ज्ञानगुण प्रकट रहता है। उदयाभावी क्षयका अर्थ है-उदयमें आकर निष्फल खिर जाना। उपशमका अर्थ है—उदय या उदीरणामें न आ सकना। इसी प्रकार यथासंभव प्रकृतियोंमें लगा लेना। सम्यग्मिथ्यात्व नामका भाव भी क्षायोपशमिक भाव है। वह सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे होता है। इस प्रकृतिका उदय ही क्षयोपशमतुल्य है, क्योंकि इसके उदयमें न तो सम्यक्त्व होता है और न सम्यक्त्वका पूर्णघात होता है। अणुव्रतभाव भी क्षायोपशमिक है। उसके वर्णनके दो प्रकार हैं— (१) अप्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षयसे व आगामी उदयमें आ सकने वाले उन्हींके उपशमसे तथा प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत भाव होता है। यहां अणुव्रतके लिये प्रत्याख्यानावरण देशघातीके तुल्य है। (२) पूर्वकषाय रहित जीवके प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत होता है। इस प्रकार महाव्रतको भी जानना अर्थात् उसके भी २ प्रकार वर्णित हैं— [१] प्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षय व उपशम से तथा संज्वलनकषायके उदयसे महाव्रतरूप क्षायोपशमिक भाव होता है। [२] पूर्वकषाय रहित जीवके संज्वलन कषायके उदयसे महाव्रत भाव होता है। महाव्रत भी क्षायोपशमिक भाव है। इत्यादि प्रकारसे क्षयोपशमके नाना प्रकार होकर भी क्षायोपशमका जो मूल लक्षण है कि गुणका पूर्णघात तो न हो, किन्तु कुछ अंश प्रकट हो—इसका विघात नहीं होता।

जीवके कल्याणके लिये प्रथम ही प्रथम क्षायोपशमिक भाव ही सहायक होता है। जो ज्ञान भेददृष्टिका कारण बनता है वह क्षायोपशमिक ही तो है। कर्मका क्षयोपशम जीव के गुणको प्रकट नहीं करता, किन्तु ऐसा ही सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि प्रकृति का क्षयोपशम होनेके समय जीवमें उसके अनुरूप गुण व्यक्ति होती है। जीवके गुणोंके इस

मोहनीयकी ३ व अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ—इन ७ प्रकृतियोंका मिलकर क्षयोपशम बनता है क्योंकि इनमें १ सम्यक्त्वप्रकृति तो देशघाती है बाकी ६ सर्वघाती हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उदय हो तो अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम कहलाता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और संज्वलन क्रोध मान माया लोभका उदय हो तो प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम कहलाता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद——इनका क्षयोपशम नहीं होता। इनमें उदयका महत्ता व तीव्रता के कारण तारतम्य हो जाता है।

अन्तरायकर्मकी ५ प्रकृतियां हैं—[१] दानान्तराय, [२] लाभान्तराय, [३] भोगान्तराय, [४] उपभोगान्तराय, [५] वीर्यान्तराय। इन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है। जिन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है वे प्रकृतियां जिन गुणोंका घात करती हैं क्षयोपशममें उन गुणोंका सर्वथा घात नहीं होता है, कुछ अंश प्रकट रहते हैं और कुछ अंश अप्रकट रहते हैं।

जीवके कल्याणके लिये सर्वप्रथम क्षयोपशमलब्धि अवकाश दिलाती है। कर्मप्रकृतियोंका हल्का होना अथवा क्षयोपशम होना सो क्षयोपशमलब्धि है। क्षयोपशमलब्धिसे विशुद्धिलब्धि प्राप्त होती है। विशुद्धिलब्धि प्राप्त होनेपर देशनालब्धि हो सकती है। इसके अनन्तर यथोचित मनन संस्कार हो जानेपर प्रायोग्यलब्धि हो जाती है। प्रायोग्यलब्धिके बाद ही करणलब्धि हो सकती है। उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़नेको विशुद्धिलब्धि कहते हैं। उपदेशके अवधारण कर लेनेको देशनालब्धि कहते हैं। विशेष विशुद्ध भाव होनेके कारण कर्मों की स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण ही रह जानेकी स्थिति प्राप्त कर लेनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करणरूप निर्मल परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं।

कर्मक्षयका उपाय भी क्षयोपशमकी प्राप्ति है। क्षयोपशमका उपाय मन्द कषाय व तत्त्वज्ञानका उपयोग है। अतः तत्त्वज्ञानके उपयोग व मन्दकषायरूप वर्तनमें यत्न करना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

कर्मक्षय

कर्म प्रकृतिका पूर्णरूपसे दूर हो जाने व उसके पुनः न आ सकनेको कर्मक्षय कहते हैं। समस्त कर्मोंके क्षयको भी क्षय कहते हैं और कर्मोंकी १४८ प्रकृतियों में से किसी भी

मोहनीयकी ३ व अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ–इन ७ प्रकृतियोंका मिलकर क्षयोपशम बनता है क्योंकि इनमें १ सम्यक्त्वप्रकृति तो देशघाती है बाकी ६ सर्वघाती हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उदय हो तो अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम कहलाता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और संज्वलन क्रोध मान माया लोभका उदय हो तो प्रत्याख्यानावरणका क्षयो- कहलाता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद––इनका क्षयोपशम नहीं होता। इनमें उदयका महत्ता व तीव्रता के कारण तारतम्य हो जाता है।

अन्तरायकर्मकी ५ प्रकृतियां हैं—[१] दानान्तराय, [२] लाभान्तराय, [३] भोगान्तराय, [४] उपभोगान्तराय, [५] वीर्यान्तराय। इन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है। जिन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है वे प्रकृतियां जिन गुणोंका घात करती हैं क्षयोपशममें उन गुणोंका सर्वथा घात नहीं होता है, कुछ अंश प्रकट रहते हैं और कुछ अंश अप्रकट रहते हैं।

जीवके कल्याणके लिये सर्वप्रथम क्षयोपशमलब्धि अवकाश दिलाती है। कर्मप्रकृतियोंका हल्का होना अथवा क्षयोपशम होना सो क्षयोपशमलब्धि है। क्षयोपशमलब्धिसे विशुद्धिलब्धि प्राप्त होती है। विशुद्धिलब्धि प्राप्त होनेपर देशनालब्धि हो सकती है। इसके अनन्तर यथोचित मनन संस्कार हो जानेपर प्रायोग्यलब्धि हो जाती है। प्रायोग्यलब्धिके बाद ही करणलब्धि हो सकती है। उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़नेको विशुद्धिलब्धि कहते हैं। उपदेशके अवधारण कर लेनेको देशनालब्धि कहते हैं। विशेष विशुद्ध भाव होनेके कारण कर्मों की स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण ही रह जानेकी स्थिति प्राप्त कर लेनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करणरूप निर्मल परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं।

कर्मक्षयका उपाय भी क्षयोपशमकी प्राप्ति है। क्षयोपशमका उपाय मन्द कषाय व तत्त्वज्ञानका उपयोग है। अतः तत्त्वज्ञानके उपयोग व मन्दकषायरूप वर्तनमें यत्न करना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

कर्मक्षय

कर्म प्रकृतिका पूर्णरूपसे दूर हो जाने व उसके पुनः न आ सकनेको कर्मक्षय कहते हैं। समस्त कर्मोंके क्षयको भी क्षय कहते हैं और कर्मोंकी १४८ प्रकृतियों में से किसी भी

मान, पश्चात् संज्वलन मायाका नवमें गुणस्थानमें ही क्षय हो जाता है। संज्वलन लोभका सूक्ष्मसाम्परायनामक १० वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

आयुकर्मकी ४ प्रकृतियाँ हैं—(१) नरकायु, (२) तिर्यग्गायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु। इनमें से नरकायु, तिर्यग्गायु व देवायु--इन तीनका तो सत्त्व ही उसके नहीं है जिसे मोक्ष जाता है। रही मनुष्यायु, सो मनुष्यायुका १४ वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

नामकर्मकी ९३ प्रकृतियां हैं। उनमें से नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, उद्योत, आताप, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर इन १३ प्रकृतियोंका नवमें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है। देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य औदारिकशरीर, वैक्रियकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियकअंगोपांग, आहारक अंगोपांग, निर्माण, औदारिक बन्धनादि, ५ बंधन औदारिकसंघातादि ५ संघात, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातीसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान, हुण्डकसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, असंप्राप्तसृटपाटिका संहनन, ८ स्पर्शनामकर्म, ५ रस नामकर्म, २ गंधनामकर्म, ५ वर्णनामकर्म, स्थिर, शुभ, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, श्वासोच्छ्वास—इन ७० प्रकृतियोंका अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थानके द्विचरम समयमें क्षय हो जाता है। मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर—इन १० प्रकृतियोंका अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थानके अन्तमें क्षय हो जाता है।

गोत्रकर्मकी २ प्रकृतियाँ—[१] नीचगोत्र, [२] उच्चगोत्र। इनमेंसे नीचगोत्रका क्षय अयोगकेवली गुणस्थानके द्विचरम समयमें होता है।

अन्तरायकी ५ प्रकृतियाँ हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय—इन पाँचों अन्तरायोंका १२ वें गुणस्थानके अन्तमें क्षय हो जाता है।

१४ वें गुणस्थानके अन्त तक सभी कर्मोंका पुनर्क्षय हो चुकता है। अतः इसके अनन्तर ही आत्मा कर्मरहित सिद्ध प्रभु हो जाता है।

कर्मप्रकृतिके क्षय होनेकी प्रायः इस प्रकार पद्धति है—किसी भी कर्मप्रकृतिके क्षय होनेके लिये उस प्रकृतिका अनुभाग घात होता है, सो उस समग्र अनुभागके अंशोंके काण्डक बनते हैं, उनमेंसे अनेक काण्डकोंका घात होता है। इसी प्रकार उस प्रकृतिकी स्थितियोंका काण्डकोंमें घात होता है और प्रदेशों अर्थात् कार्माणवर्गणाओंका भी कट कट कर पहिली

मान, पश्चात् संज्वलन मायाका नवमें गुणस्थानमें ही क्षय हो जाता है। संज्वलन लोभका सूक्ष्मसाम्परायनामक १० वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

आयुकर्मकी ४ प्रकृतियाँ हैं—(१) नरकायु, (२) तिर्यग्गायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु। इनमें से नरकायु, तिर्यग्गायु व देवायु—इन तीनका तो सत्त्व ही उसके नहीं है जिसे मोक्ष जाता है। रही मनुष्यायु, सो मनुष्यायुका १४ वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

नामकर्मकी ९३ प्रकृतियां हैं। उनमें से नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, उद्योत, आताप, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर इन १३ प्रकृतियोंका नवमें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है। देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य औदारिकशरीर, वैक्रियकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियकअंगोपांग, आहारक अंगोपांग, निर्माण, औदारिक बन्धनादि ५ बंधन औदारिकसंघातादि ५ संघात, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातीसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान, हुण्डकसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, असंप्राप्तस्टपाटिका संहनन, ८ स्पर्शनामकर्म, ५ रस नामकर्म, २ गंधनामकर्म, ५ वर्णनामकर्म, स्थिर, शुभ, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, श्वासोच्छ्वास—इन ७० प्रकृतियोंका अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थानके द्विचरम समयमें क्षय हो जाता है। मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर—इन १० प्रकृतियोंका अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थानके अन्तमें क्षय हो जाता है।

गोत्रकर्मकी २ प्रकृतियाँ—[१] नीचगोत्र, [२] उच्चगोत्र। इनमेंसे नीचगोत्रका क्षय अयोगकेवली गुणस्थानके द्विचरम समयमें होता है।

अन्तरायकी ५ प्रकृतियाँ हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय—इन पाँचों अन्तरायोंका १२ वें गुणस्थानके अन्तमें क्षय हो जाता है।

१४ वें गुणस्थानके अन्त तक सभी कर्मोंका पुनर्क्षय हो चुकता है। अतः इसके अनन्तर ही आत्मा कर्मरहित सिद्ध प्रभु हो जाता है।

कर्मप्रकृतिके क्षय होनेकी प्रायः इस प्रकार पद्धति है—किसी भी कर्मप्रकृतिके क्षय होनेके लिये उस प्रकृतिका अनुभाग घात होता है, सो उस समग्र अनुभागके अंशोंके काण्डक बनते हैं, उनमेंसे अनेक काण्डकोंका घात होता है। इसी प्रकार उस प्रकृतिकी स्थितियोंका काण्डकोंमें घात होता है और प्रदेशों अर्थात् कार्माणवर्गणाओंका भी छट छट कर पहिली

प्रमाद आ जाये तो उसके प्रमत्तविरत गुणस्थान हो जाता है।

अप्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती जीवके जब सातिशय परिणाम होता है तब वह अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। यदि उस सातिशय अप्रमत्तविरत मुनिने कर्मप्रकृतियोंके उपशम करनेका परिणाम प्रारम्भ किया तो उपशमश्रेणिके अपूर्वकरणगुणस्थान (८ वां गुणस्थान) में पहुंचता है और यदि क्षय करनेका परिणाम प्रारम्भ किया तो क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। सातवें गुणस्थानसे ऊपर दो श्रेणियां हैं—(१) उपशमश्रेणि, (२) क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणिमें तो ८वां, ९वां, १०वां व ११वां—ये चार गुणस्थान हैं और क्षपक श्रेणिमें ८वां, ९वां, १०वां व १२वां—ये चार गुणस्थान हैं। बारहवेंसे ऊपर भी क्षपक हैं, किन्तु १३ वें, १४ वें गुणस्थानके मुकाबिले कोई उपशमक होता ही नहीं। अतः प्रयोजन नहीं होनेसे श्रेणिसे ऊपर इन्हें कहा गया है।

अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीवके अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते रहते हैं, जिसके निमित्तसे कर्मोंकी स्थितिका घात होने लगता है, स्थितिबन्ध कम हो जाते है, बहुतसा अनुभाग (फलशक्ति) कर्मोका नष्ट हो जाता है, कर्मस्कन्धोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है व खोटी प्रकृतियां शुभ प्रकृतियोंमें बदल जाती हैं।

अपूर्वकरणगुणस्थानके बाद जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुँचता है। इसमें अपूर्वकरणसे भी अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते हैं। उपशमश्रेणिके अपूर्व करणकरणवाला तो उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरणमें जाता है और क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरणवाला क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरणमें जाता है। उपशमक अनिवृत्तिकरण चारित्रबाधक २० कर्म प्रकृतियोंका उपशम करता है, सिर्फ एक सूक्ष्म संज्वलन लोभ बच जाता है और क्षपक अनिवृत्तिकरण इन २० कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है। इनके क्षयके अतिरिक्त अन्य कर्मसम्बन्धी १६ प्रकृतियोंका भी क्षय करता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके बाद जीव सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला तो उपशमश्रेणिके सूक्ष्मसाम्परायमें पहुंचता है और क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाला जीव क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमक सूक्ष्मसाम्पराय तो सूक्ष्मसंज्वलन लोभका उपशम कर देता है और क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवाला इस लोभका क्षय कर देता है। इस प्रकार चारित्रबाधक प्रकृति फिर नहीं रहती है।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके बाद जीव उपशमश्रेणिका हो तो उपशान्तक कषाय नामके ११ वें गुणस्थानमें जाता है। यदि क्षपक श्रेणिका हो तो क्षीणकषाय नाम १२ वें गुणस्थानमें जाता है। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव तो चारित्रमोहके उपशमके काल

प्रमाद आ जावे तो उसके प्रमत्तविरत गुणस्थान हो जाता है।

अप्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती जीवके जब सातिशय परिणाम होता है तब वह अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। यदि उस सातिशय अप्रमत्तविरत मुनिने कर्मप्रकृतियोंके उपशम करनेका परिणाम प्रारम्भ किया तो उपशमश्रेणिके अपूर्वकरणगुणस्थान (८ वां गुणस्थान) में पहुंचता है और यदि क्षय करनेका परिणाम प्रारम्भ किया तो क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। सातवें गुणस्थानसे ऊपर दो श्रेणियां हैं—(१) उपशमश्रेणि, (२) क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणिमें तो ८वां, ९वां, १०वां व ११वां—ये चार गुणस्थान हैं और क्षपक श्रेणिमें ८वां, ९वां, १०वां व १२वां—ये चार गुणस्थान हैं। बारहवेंसे ऊपर भी क्षपक हैं, किन्तु १३ वें, १४ वें गुणस्थानके मुकाबिले कोई उपशमक होता ही नहीं। अतः प्रयोजन नहीं होनेसे श्रेणिसे ऊपर इन्हें कहा गया है।

अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीवके अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते रहते हैं, जिसके निमित्तसे कर्मोंकी स्थितिका घात होने लगता है, स्थितिबन्ध कम हो जाते है, बहुतसा अनुभाग (फलशक्ति) कर्मोंका नष्ट हो जाता है, कर्मस्कन्धोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है व खोटी प्रकृतियां शुभ प्रकृतियोंमें बदल जाती हैं।

अपूर्वकरणगुणस्थानके बाद जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुँचता है। इसमें अपूर्वकरणसे भी अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते हैं। उपशमश्रेणिके अपूर्व करणकरणवाला तो उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरणमें जाता है और क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरणवाला क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरणमें जाता है। उपशमक अनिवृत्तिकरण चारित्रबाधक २० कर्म प्रकृतियोंका उपशम करता है, सिर्फ एक सूक्ष्म संज्वलन लोभ बच जाता है और क्षपक अनिवृत्तिकरण इन २० कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है। इनके क्षयके अतिरिक्त अन्य कर्मसम्बन्धी १६ प्रकृतियोंका भी क्षय करता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके बाद जीव सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला तो उपशमश्रेणिके सूक्ष्मसाम्परायमें पहुंचता है और क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाला जीव क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमक सूक्ष्मसाम्पराय तो सूक्ष्मसंज्वलन लोभका उपशम कर देता है और क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवाला इस लोभका क्षय कर देता है। इस प्रकार चारित्रबाधक प्रकृति फिर नहीं रहती है।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके बाद जीव उपशमश्रेणिका हो तो उपशान्तक कषाय नामके ११ वें गुणस्थानमें जाता है। यदि क्षपक श्रेणिका हो तो क्षीणकषाय नाम १२ वें गुणस्थानमें जाता है। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव तो चारित्रमोहके उपशमके काल

जैसे गुरु शिष्यके उद्धारके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करता है अथवा माता पुत्रके सदाचारकी रक्षाके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करती है तो भी उन दोनों (गुरु व माता) के अन्तरङ्गमें वैसा कषाय परिणाम नहीं है। इसी प्रकार व्यवहारयापनके लिये सम्यग्दृष्टि प्रमत्त जीव कदाचित् प्रयोजनवश क्रोधादि भी करता है तो भी उसके अन्तरङ्ग में वैसा कषाय परिणाम नहीं है, क्योंकि उसने तो उद्देश्य निजकल्याणका बनाया है।

जैसे माता बच्चेको सुधारकी चाहसे मारती भी है अथवा डाक्टर करुणाभावसे रोगीकी चिकित्सा करता है, आपरेशन करता है और दैववश रोगी मर जाता है तो माता या डाक्टर मारनेवाले नहीं कहलाते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी प्रत्येक जीवपर करुणाभाव रखता है। किसीके सुधारकी चाहसे उसका व्यवहार अन्य जीवको अरुचिकर लगे या बाधाकर लगे तो सम्यग्दृष्टि जीव कहीं घातक या बाधक नहीं हो जाता, वह तो परदयासे पूर्ण ही रहता है।

जैसे सेठका नौकरीके कारण सेठके बच्चेको खिलाता हुआ भी वह अन्तरङ्गसे उसका खिलानेवाला नहीं है। इसी प्रकार गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मनुष्य गृहाश्रमकी वृत्तिके कारण पुत्रादिकोंसे प्रेमपूर्ण वार्तालाप करता है, उन्हें खिलाता है तो भी वह अन्तरङ्गसे उनका खिलानेवाला नहीं है, क्योंकि उसका लक्ष्य तो स्वाधीन सहज आत्मीय आनन्दके लिये बना रहता है।

जैसे सेठका नौकर मुनीम दुकानको चलाता है, संभालता है, कोई लेनदेनवाला आवे तो उसे कहता भी है कि तेरे इतने दाम आये, मेरे इतने दाम तुमपर निकलते हैं, कोई लूटना चाहे तो उससे रक्षा भी करता है; इत्यादि अनेक प्रकरणोंमें मुनीम लगा हुआ है तो भी मुनीमके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह मेरी दुकान है, यह मेरा वैभव है इत्यादि। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि रागी मनुष्य घरके सब काम चलाता है, परिवारको संभालता है, व्यापार करता है, कोई आक्रामक आवे तो अपनी रक्षाके लिये प्रत्याक्रमण भी करता है, विवाद भी करता है, युद्ध भी करता है इत्यादि अनेक कार्योंमें वृत्ति करता है तो भी उस ज्ञानी मनुष्यके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह परिवार मेरा है, यह वैभव मेरा है इत्यादि।

सम्यग्दृष्टि जीवका उद्देश्य विशुद्ध हो जानेके कारण उसकी सभी वृत्तियां अलौकिक होती हैं। ज्ञानीकी महिमा अपार है, सम्यक्त्वकी महिमा अपार है। कितनी बाह्य वृत्तियाँ तो अज्ञानियोंकी वृत्तियों जैसी मालूम पड़ती हैं, लेकिन वहाँ भी अन्तरङ्गमें ज्ञानीके अलौकिक वृत्ति हो रही है। लोकमें सम्यग्दृष्टि जीव ही वास्तवमें सुखी है। विपरीत अभिप्रायको छोड़ देनेसे कोई संज्ञी जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

जैसे गुरु शिष्यके उद्धारके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करता है अथवा माता पुत्रके सदाचारकी रक्षाके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करती है तो भी उन दोनों (गुरु माता) के अन्तरङ्गमें वैसा कषाय परिणाम नहीं है। इसी प्रकार व्यवहारयापनके लिये सम्यग्दृष्टि प्रमत्त जीव कदाचित् प्रयोजनवश क्रोधादि भी करता है तो भी उसके अन्तरङ्ग में वैसा कषाय परिणाम नहीं है, क्योंकि उसने तो उद्देश्य निजकल्याणका बनाया है।

जैसे माता बच्चेको सुधारकी चाहसे मारती भी है अथवा डाक्टर करुणाभावसे रोगीकी चिकित्सा करता है, आपरेशन करता है और दैववश रोगी मर जाता है तो माता या डाक्टर मारनेवाले नहीं कहलाते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी प्रत्येक जीवपर करुणाभाव रखता है। किसीके सुधारकी चाहसे उसका व्यवहार अन्य जीवको अरुचिकर लगे या बाधाकर लगे तो सम्यग्दृष्टि जीव कहीं घातक या बाधक नहीं हो जाता, वह तो परदयासे पूर्ण ही रहता है।

जैसे सेठका नौकरीके कारण सेठके बच्चेको खिलाता हुआ भी वह अन्तरङ्गसे उसका खिलानेवाला नहीं है। इसी प्रकार गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मनुष्य गृहाश्रमकी वृत्तिके कारण पुत्रादिकोंसे प्रेमपूर्ण वार्तालाप करता है, उन्हें खिलाता है तो भी वह अन्तरङ्गसे उनका खिलानेवाला नहीं है, क्योंकि उसका लक्ष्य तो स्वाधीन सहज आत्मीय आनन्दके लिये बना रहता है।

जैसे सेठका नौकर मुनीम दुकानको चलाता है, संभालता है, कोई लेनदेनवाला आवे तो उसे कहता भी है कि तेरे इतने दाम आये, मेरे इतने दाम तुमपर निकलते हैं, कोई लूटना चाहे तो उससे रक्षा भी करता है; इत्यादि अनेक प्रकरणोंमें मुनीम लगा हुआ है तो भी मुनीमके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह मेरी दुकान है, यह मेरा वैभव है इत्यादि। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि रागी मनुष्य घरके सब काम चलाता है, परिवारको संभालता है, व्यापार करता है, कोई आक्रामक आवे तो अपनी रक्षाके लिये प्रत्याक्रमण भी करता है, विवाद भी करता है, युद्ध भी करता है इत्यादि अनेक कार्योंमें वृत्ति करता है तो भी उस ज्ञानी मनुष्यके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह परिवार मेरा है, यह वैभव मेरा है इत्यादि।

सम्यग्दृष्टि जीवका उद्देश्य विशुद्ध हो जानेके कारण उसकी सभी वृत्तियां अलौकिक होती हैं। ज्ञानीकी महिमा अपार है, सम्यक्त्वकी महिमा अपार है। कितनी बाह्य वृत्तियाँ तो अज्ञानियोंकी वृत्तियों जैसी मालूम पड़ती हैं, लेकिन वहाँ भी अन्तरङ्गमें ज्ञानीके अलौकिक वृत्ति हो रही है। लोकमें सम्यग्दृष्टि जीव ही वास्तवमें सुखी है। विपरीत अभिप्रायको छोड़ देने कोई संज्ञी जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

जब यहाँ पुरुषोंके ज्ञान भी इस कलासे सहित देखे जाते हैं कि वे भूत पर्यायको बराबर जान रहे हैं और वर्तमान पर्यायको जानते हैं, साथ ही यह भी कला है कि भविष्यके पर्यायोंको भी जानते हैं। यह बात दूसरी है कि किसीका ज्ञान मिथ्या होता है, किसीका ज्ञान सम्यक् होता है, किन्तु कला तो भूत, भविष्यको भी जाननेकी है। फिर जो ज्ञान सर्व आवरणोंसे दूर हो गया, वह भूत, भविष्यको न जान सके, यह कैसे हो सकता है? प्रत्युत वह पूर्ण निरावरण ज्ञान अनन्त भूत व भविष्यको जानता है अथवा जो जो भी ज्ञेय है वह सब केवलज्ञानका विषय हो जाता है। केवलज्ञान तो सबको जानता है, चाहे वह स्थूल विषय हो, चाहे सूक्ष्म विषय हो। बहुप्रदेशी, एकप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त, भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब ही ज्ञेयको केवलज्ञान जानता है। केवलज्ञानका परिणमन तो समस्त अर्थोंके साक्षात्कार (ज्ञेयाकाररूप) है। अतः यदि यहाँ कोई शंका करे कि केवलज्ञानी सबको नहीं जानता तो यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी खुदके एकको भी नहीं जानता है और चूंकि निश्चयसे केवलज्ञानी बाह्य अर्थको जानते नहीं है, व्यवहारसे बाह्य अर्थको जानते हैं और कोई यदि शंका करे कि केवलज्ञानी खुदके एकको नहीं जानता, बाह्य सब अर्थको ही जानता है तो यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी बाह्य किसी भी अर्थको नहीं जानता। यहाँ तो यह देखा जा रहा है कि यदि सबको नहीं जानता तो एकको भी नहीं जानता और एकको नहीं जानता तो सबको नहीं जानता।

केवलज्ञान केवल आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। ज्ञान तो वैसे सभी आत्माके ही आश्रयसे प्रकट होते हैं, किन्तु उन ज्ञानोंमें से कितने ही ज्ञान तो उत्पत्तिमें इन्द्रिय या मनके बहिरङ्गसाधनकी अपेक्षा रखते है और कितने ही ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अवधि लेकर प्रकट होते हैं, उन सबसे विलक्षण यह केवलज्ञान है जो कि असहाय और अनवधि है। केवलज्ञान पहिले तो सशरीर अवस्थामें परमात्माके होता है, बादमें ये ही परमात्मा शरीरमुक्त हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रवर्तता ही रहता है। जब सशरीर परमात्मा हैं तब भी यह केवलज्ञान मन, इन्द्रिय, उपदेश, संस्कार, प्रकाश आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता है और न शरीररहित अवस्थामें ही किसीकी अपेक्षा करता है—केवल आत्मासे ही होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, प्रत्यक्षमें भी सकल-प्रत्यक्षज्ञान है। इतना ही नहीं, किन्तु सहज निरुपाधि आनन्दका साधनीभूत होनेसे यह केवलज्ञान महाप्रत्यक्ष कहा जाना चाहिये, क्योंकि यह केवलज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है, परिपूर्ण, समस्त ज्ञेयोंको जानता है, अत्यन्त निर्मल है, इस ज्ञानमें कोई क्रम नहीं है कि पहिले अस्पष्ट जाने, पीछे स्पष्ट जाने। जो ज्ञान ऐसा है उसमें आकुलताका स्थान ही कहाँ? जो उत्पत्तिमें पराधीन हो, अपूर्ण हो, कुछ ही ज्ञेयोंको जाने, सकलङ्क हो, क्रम क्रमसे स्पष्ट जाने, ऐसे ज्ञानके साथ ही आकुलताका निवास है।

जब यहाँ पुरुषोंके ज्ञान भी इस कलासे सहित देखे जाते हैं कि वे भूत पर्यायको बराबर जान रहे हैं और वर्तमान पर्यायको जानते हैं, साथ ही यह भी कला है कि भविष्यके पर्यायोंको भी जानते हैं। यह बात दूसरी है कि किसीका ज्ञान मिथ्या होता है, किसीका ज्ञान सम्यक् होता है, किन्तु कला तो भूत, भविष्यको भी जाननेकी है। फिर जो ज्ञान सर्व आवरणोंसे दूर हो गया, वह भूत, भविष्यको न जान सके, यह कैसे हो सकता है? प्रत्युत वह पूर्ण निरावरण ज्ञान अनन्त भूत व भविष्यको जानता है अथवा जो जो भी ज्ञेय है वह सब केवलज्ञानका विषय हो जाता है। केवलज्ञान तो सबको जानता है, चाहे वह स्थूल विषय हो, चाहे सूक्ष्म विषय हो। बहुप्रदेशी, एकप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त, भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब ही ज्ञेयको केवलज्ञान जानता है। केवलज्ञानका परिणमन तो समस्त अर्थोंके साक्षात्कार (ज्ञेयाकाररूप) है। अतः यदि यहाँ कोई शंका करे कि केवलज्ञानी सबको नहीं जानता तो यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी खुदके एकको भी नहीं जानता है और चूंकि निश्चयसे केवलज्ञानी बाह्य अर्थको जानते नहीं है, व्यवहारसे बाह्य अर्थको जानते हैं और कोई यदि शंका करे कि केवलज्ञानी खुदके एकको नहीं जानता, बाह्य सब अर्थको ही जानता है तो यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी बाह्य किसी भी अर्थको नहीं जानता। यहाँ तो यह देखा जा रहा है कि यदि सबको नहीं जानता तो एकको भी नहीं जानता और एकको नहीं जानता तो सबको नहीं जानता।

केवलज्ञान केवल आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। ज्ञान तो वैसे सभी आत्माके ही आश्रयसे प्रकट होते हैं, किन्तु उन ज्ञानोंमें से कितने ही ज्ञान तो उत्पत्तिमें इन्द्रिय या मनके बहिरङ्गसाधनकी अपेक्षा रखते है और कितने ही ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अवधि लेकर प्रकट होते हैं, उन सबसे विलक्षण यह केवलज्ञान है जो कि असहाय और अनवधि है। केवलज्ञान पहिले तो सशरीर अवस्थामें परमात्माके होता है, बादमें ये ही परमात्मा शरीरमुक्त हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रवर्तता ही रहता है। जब सशरीर परमात्मा हैं तब भी यह केवलज्ञान मन, इन्द्रिय, उपदेश, संस्कार, प्रकाश आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता है और न शरीररहित अवस्थामें ही किसीकी अपेक्षा करता है—केवल आत्मासे ही होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, प्रत्यक्षमें भी सकल-प्रत्यक्षज्ञान है। इतना ही नहीं, किन्तु सहज निरुपाधि आनन्दका साधनीभूत होनेसे यह केवलज्ञान महाप्रत्यक्ष कहा जाना चाहिये, क्योंकि यह केवलज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है, परिपूर्ण, समस्त ज्ञेयोंको जानता है, अत्यन्त निर्मल है, इस ज्ञानमें कोई क्रम नहीं है कि पहिले अस्पष्ट जाने, पीछे स्पष्ट जाने। जो ज्ञान ऐसा है उसमें आकुलताका स्थान ही कहाँ? जो उत्पत्तिमें पराधीन हो, अपूर्ण हो, कुछ ही ज्ञेयोंको जाने, सकलङ्क हो, क्रम क्रमसे स्पष्ट जाने, ऐसे ज्ञानके साथ ही आकुलताका निवास है।

पूर्ण ज्ञान है। उसकी सहज लीलामें ही विश्व प्रतिभासित हो जाता है, फिर भी केवलज्ञानके साथ अनन्त आनन्दका अन्वय है। केवलज्ञानी निजानन्द रसलीन रहते हैं।

आत्माके अनन्त गुणोंमें से एक प्रधान गुण ज्ञानगुण है। उस ज्ञानगुणका पूर्ण शुद्ध परिणमन केवलज्ञान है। केवलज्ञान आत्माका स्वभावपर्याय है अर्थात् बाधकभूत अन्तरङ्ग व बहिरंग साधन न हों तो परिपूर्ण ज्ञानविकासरूप केवलज्ञान पर्याय ही प्रगट होती है। केवल ज्ञानके बाधक बहिरंगसाधन ज्ञानावरणका उदय है। बाधक बहिरंग सहायकसाधन मोहनीय कर्मका उदय है। अन्तरंगबाधक साधन परके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञानोपयोग है, वास्तविक बाधक यही परलक्ष्योपयोग है। त्रैकालिक चैतन्यस्वरूपमय निज आत्मतत्त्वका आश्रय उपयोग करे तो निर्मल ज्ञानोपयोग विकसित हो होकर केवलज्ञानपर्याय प्रकट होती है। परवस्तुका आश्रय करके होनेवाला उपयोग केवलज्ञानका मुख्य बाधक है और परवस्तुके आश्रय करके होनेवाले उपयोगमें आत्मबुद्धिका होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है। भेदरूपमें गुण पर्यायके ग्रहणरूपसे निज आत्मतत्त्वके बारेमें भी होनेवाला उपयोग और उस उपयोगमें आत्मबुद्धि होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है।

आत्माके लिये सारभूत, हितरूप, आनन्दकर उपयोग केवलज्ञान ही है। केवलज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी अथवा आत्माकी पूर्ण शुद्ध परिणति है। केवलज्ञान होते ही आत्मा परमात्मा हो जाता है। केवलज्ञान प्रत्येक आत्माका स्वभावभाव है अर्थात् प्रत्येक आत्मामें केवलज्ञान होनेकी शक्ति है। केवलज्ञान ही हित है, इसमें सब प्रकारके क्लेश समाप्त होकर सहज आनन्द एवं परिपूर्ण आनन्द प्रकट हो जाता है। केवलज्ञान जिस विधिसे प्रकट होता है वह विधि स्वाधीन है। वह विधि है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण करके उपयोगका शुद्धस्वभावका विषय करनेवाला होगा। यह ज्ञान द्वारा साध्य है। इस ज्ञानपयोग रूप वर्तनेके लिये भेदविज्ञान साधन है। भेदविज्ञान ! जयवंत होहु, शुद्धपयोग ! जयवंत होहु, केवलज्ञान ! जयवंत होहु।

सकलपरमात्मा

जब कोई साधु अन्तरंग बहिरंग समस्त परिग्रहके त्यागके बलसे और निरपेक्ष शुद्ध निज कारणसमयसारके अवलम्बनसे सर्वप्रकारके मोहसन्तानसे अत्यन्त पृथक् हो जाता है, किसी भी कषायका मूल नहीं रहता है। उसके अनन्तर शीघ्र ही अनन्तज्ञानी अनन्तदर्शी, अनन्तानन्दी, अनन्तशक्तिमान् परमात्मा हो जाता है। इस परमात्मदेवका जब तक शरीर के एकक्षेत्रावगाहमें वास है तब तक यह सकलपरमात्मा कहलाता है। शरीर तो पहिलेसे

पूर्ण ज्ञान है। उसकी सहज लीलामें ही विश्व प्रतिभासित हो जाता है, फिर भी केवलज्ञानके साथ अनन्त आनन्दका अन्वय है। केवलज्ञानी निजानन्द रसलीन रहते हैं।

आत्माके अनन्त गुणोंमें से एक प्रधान गुण ज्ञानगुण है। उस ज्ञानगुणका पूर्ण शुद्ध परिणमन केवलज्ञान है। केवलज्ञान आत्माका स्वभावपर्याय है अर्थात् बाधकभूत अन्तरङ्ग व बहिरंग साधन न हों तो परिपूर्ण ज्ञानविकासरूप केवलज्ञान पर्याय ही प्रगट होती है। केवल ज्ञानके बाधक बहिरंगसाधन ज्ञानावरणका उदय है। बाधक बहिरंग सहायकसाधन मोहनीय कर्मका उदय है। अन्तरंगबाधक साधन परके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञानोपयोग है, वास्तविक बाधक यही परलक्ष्योपयोग है। त्रैकालिक चैतन्यस्वरूपमय निज आत्मतत्त्वका आश्रय उपयोग करे तो निर्मल ज्ञानोपयोग विकसित हो होकर केवलज्ञानपर्याय प्रकट होती है। परवस्तुका आश्रय करके होनेवाला उपयोग केवलज्ञानका मुख्य बाधक है और परवस्तुके आश्रय करके होनेवाले उपयोगमें आत्मबुद्धिका होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है। भेदरूपमें गुण पर्यायके ग्रहणरूपसे निज आत्मतत्त्वके बारेमें भी होनेवाला उपयोग और उस उपयोगमें आत्मबुद्धि होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है।

आत्माके लिये सारभूत, हितरूप, आनन्दकर उपयोग केवलज्ञान ही है। केवलज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी अथवा आत्माकी पूर्ण शुद्ध परिणति है। केवलज्ञान होते ही आत्मा परमात्मा हो जाता है। केवलज्ञान प्रत्येक आत्माका स्वभावभाव है अर्थात् प्रत्येक आत्मामें केवलज्ञान होनेकी शक्ति है। केवलज्ञान ही हित है, इसमें सब प्रकारके क्लेश समाप्त होकर सहज आनन्द एवं परिपूर्ण आनन्द प्रकट हो जाता है। केवलज्ञान जिस विधिसे प्रकट होता है वह विधि स्वाधीन है। वह विधि है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण करके उपयोगका शुद्धस्वभावका विषय करनेवाला होगा। यह ज्ञान द्वारा साध्य है। इस ज्ञानपयोग रूप वर्तनेके लिये भेदविज्ञान साधन है। भेदविज्ञान ! जयवंत होहु, शुद्धपयोग ! जयवंत होहु, केवलज्ञान ! जयवंत होहु।

सकलपरमात्मा

जब कोई साधु अन्तरंग बहिरंग समस्त परिग्रहके त्यागके बलसे और निरपेक्ष शुद्ध निज कारणसमयसारके अवलम्बनसे सर्वप्रकारके मोहसन्तानसे अत्यन्त पृथक् हो जाता है, किसी भी कषायका मूल नहीं रहता है। उसके अनन्तर शीघ्र ही अनन्तज्ञानी अनन्तदर्शी, अनन्तानन्दी, अनन्तशक्तिमान् परमात्मा हो जाता है। इस परमात्मदेवका जब तक शरीर के एकक्षेत्रावगाहमें वास है तब तक यह सकलपरमात्मा कहलाता है। शरीर तो पहिलेसे

व ज्ञानियोंमें वात्सल्य रखनेकी भावनाको प्रवचनवत्सलत्व कहते हैं।

इन भावनाओंमें मुख्य दर्शनविशुद्धि है। दर्शनविशुद्धि तो अवश्य ही होनी चाहिये। अन्य १५ भावनाओंमें कोई कम भी रह जाय तो भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका वन्ध हो सकता है। जिनके पहिले भवमें तीर्थङ्कर प्रकृति वन्ध गई, वे देवगतिमें जन्म लेते हैं और देवगतिसे च्युत होकर मनुष्यभवमें तीर्थङ्कर होकर निर्वाण पाते हैं। यदि किसी जीवने पहिले नरकायु बाँध ली हो और वादमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका वन्ध कर लिया जाय तो वह नरकगतिमें जन्म लेगा। वहाँसे निकलकर मनुष्यभवमें तीर्थंकर होता है। तीर्थंकरोंके गर्भमें आनेसे ६ माह पहिलेसे व ९ माह गर्भकाल तक याने १५ माह तक तीर्थंकरके माता पिताके घर रत्नवृष्टि होती है। जन्म होनेपर इन्द्रदेव आते हैं और वड़े उत्साहके साथ तीर्थंकर वालकको मेरुपर्वत पर ले जाते हैं और क्षीर सागरके जलसे अभिषेक करते हैं, स्तुति कर माता पिताके घर लाकर उन्हें सौंप देते हैं। तीर्थंकरके वैराग्यके समय इन्द्रदेव कल्याणक करते हैं। केवलज्ञान उपजनेपर भी देव इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। निर्वाणके समय भी देव व इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। इस तरह पञ्चकल्याण मनाये जाते हैं। तीर्थंकर भगवान्की सभा समवशरणके रूपमें होती है।

तीर्थङ्कर देवके जन्मसे ही अनेक शरीरातिशय होते हैं। सामान्यकेवली होनेवाले महापुरुषोंके जन्मसे ही उनमें से कुछ कम भी होते हैं, उनमें कुछ आवश्यक ही हैं। सकल-परमात्माकी दुनियाके लिये सन्मार्गोपदेश देन है।

गत वर्तमानकालमें श्री ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनि-सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व व महावीर-ये २४ तीर्थंकर हुए हैं और भरत, वाहुवलि, राम, हनुमान, सुग्रीव, सुकौशल, प्रद्युम्न आदि अनेक कोटाकोटि सामान्यकेवली हुए हैं।

सकलपरमात्माका आत्मा व यहाँ हम लोगोंका आत्मा द्रव्यदृष्टिसे एक समान है। चेतनपदार्थ सकलपरमात्मा है, सो चेतनपदार्थ यहां हममें भी है। गुण (शक्ति) की अपेक्षा भी देखा जाय तो सकलपरमात्मा व हम एक समान हैं। चेतनद्रव्यमें जितने गुण होते हैं उतने ही तो सकलपरमात्माकी आत्मामें हैं और उतने ही हम लोगोंकी आत्मामें हैं। अन्तर केवल परिणमनकी अपेक्षासे है। सकलपरमात्मा वीतराग व सर्वज्ञ हैं; किन्तु हम सराग एवं अल्पज्ञ हैं। सकलपरमात्मा की आत्मा भी पहिले हम जैसी थी, किन्तु क्षयोपशमलब्धि-वश वढ़ती हुई विशुद्धिके प्रतापसे ऐसी स्थिति पाई कि उपदेश विवेकका ग्रहण किया और उसमें जो तत्त्व जाना उसका मनन किया, जिसके प्रतापसे विशेष विशुद्धि हुई। विशुद्धिके उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेपर सम्यग्दर्शन, संयम, विशिष्ट ध्यान आदि होते गये, जिसके

व ज्ञानियोंमें वात्सल्य रखनेकी भावनाको प्रवचनवत्सलत्व कहते हैं।

इन भावनाओंमें मुख्य दर्शनविशुद्धि है। दर्शनविशुद्धि तो अवश्य ही होनी चाहिये। अन्य १५ भावनाओंमें कोई कम भी रह जाय तो भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध हो सकता है। जिनके पहिले भवमें तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध गई, वे देवगतिमें जन्म लेते हैं और देवगतिसे च्युत होकर मनुष्यभवमें तीर्थङ्कर होकर निर्वाण पाते हैं। यदि किसी जीवने पहिले नरकायु बाँध ली हो और बादमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध कर लिया जाय तो वह नरकगतिमें जन्म लेगा। वहाँसे निकलकर मनुष्यभवमें तीर्थंकर होता है। तीर्थंकरोंके गर्भमें आनेसे ६ माह पहिलेसे व ९ माह गर्भकाल तक याने १५ माह तक तीर्थंकरके माता पिताके घर रत्नवृष्टि होती है। जन्म होनेपर इन्द्रदेव आते हैं और बड़े उत्साहके साथ तीर्थंकर बालकको मेरुपर्वत पर ले जाते हैं और क्षीर सागरके जलसे अभिषेक करते हैं, स्तुति कर माता पिताके घर लाकर उन्हें सौंप देते हैं। तीर्थंकरके वैराग्यके समय इन्द्रदेव कल्याणक करते हैं। केवलज्ञान उपजनेपर भी देव इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। निर्वाणके समय भी देव व इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। इस तरह पञ्चकल्याण मनाये जाते हैं। तीर्थंकर भगवान्की सभा समवशरणके रूपमें होती है।

तीर्थङ्कर देवके जन्मसे ही अनेक शरीरातिशय होते हैं। सामान्यकेवली होनेवाले महापुरुषोंके जन्मसे ही उनमें से कुछ कम भी होते हैं, उनमें कुछ आवश्यक ही हैं। सकल-परमात्माकी दुनियाके लिये सन्मार्गोपदेश देन है।

गत वर्तमानकालमें श्री ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनि-सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व व महावीर-ये २४ तीर्थंकर हुए हैं और भरत, बाहुबलि, राम, हनुमान, सुग्रीव, सुकौशल, प्रद्युम्न आदि अनेक कोटाकोटि सामान्यकेवली हुए हैं।

सकलपरमात्माका आत्मा व यहाँ हम लोगोंका आत्मा द्रव्यदृष्टिसे एक समान है। चेतनपदार्थ सकलपरमात्मा है, सो चेतनपदार्थ यहां हममें भी है। गुण (शक्ति) की अपेक्षा भी देखा जाय तो सकलपरमात्मा व हम एक समान हैं। चेतनद्रव्यमें जितने गुण होते हैं उतने ही तो सकलपरमात्माकी आत्मामें हैं और उतने ही हम लोगोंकी आत्मामें हैं। अन्तर केवल परिणमनकी अपेक्षासे है। सकलपरमात्मा वीतराग व सर्वज्ञ हैं; किन्तु हम सराग एवं अल्पज्ञ हैं। सकलपरमात्मा की आत्मा भी पहिले हम जैसी थी, किन्तु क्षयोपशमलब्धि-वश बढ़ती हुई विशुद्धिके प्रतापसे ऐसी स्थिति पाई कि उपदेश विवेकका ग्रहण किया और उसमें जो तत्त्व जाना उसका मनन किया, जिसके प्रतापसे विशेष विशुद्धि हुई। विशुद्धिके उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेपर सम्यग्दर्शन, संयम, विशिष्ट ध्यान आदि होते गये, जिसके

उपाधि व आधारके आधारका अब कर्मरूप उपाधि व शरीररूप आधार नष्ट हो गया, अब आत्मप्रदेशोंके संकोच व विस्तारका कोई कारण नहीं रहा, फिर कैसे फैल जावें और कैसे वटवीजादि प्रमाण हो जावें, अतः जिस आकारसे मुक्त हुए उसी आकार प्रमाण रहते हैं। आत्माका स्वभावतः कोई आकार नहीं है और न स्वभावतः आकारकी वृद्धि हानि है, किन्तु जैसे मूसमें मोम भरा था, अब प्रयोगसे मोम गल जाता है तो मूसका या आभूषणमें के पोलका आकार वही रह जाता है, जो मूसका था। इसी प्रकार कर्ममल गल जाने (नष्ट हो जाने) पर व शरीरसे भी मुक्त हो जानेपर मुक्त आत्माके प्रदेशोंका आकार वही रह जाता है, जिस प्रमाण पहिले थे।

निकलपरमात्मामें सकलपरमात्माकी भांति क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तवीर्य आदि तो हैं ही, साथ ही शरीर व अवशिष्ट कर्मोंसे मुक्त हो जानेके कारण अगुरुलघु, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अव्यावाधत्व आदि भी प्रकट हो जाते हैं। निकलपरमात्मामें शरीरका सम्वन्ध न होनेसे तथा व्यावहारिकता न होनेसे निकलपरमात्मा का ध्यान निज शुद्धस्वरूपके ध्यानके लिये विशेषाधिक सहायक है। निकलपरमात्माका स्वरूप और चेतनके सहज स्वभावका स्वरूप एक समान शव्दोंसे विशेपित है। जैसे निकलपरमात्मा विराग हैं तो सहज चैतन्य स्वरूप भी विराग है। इसी तरह सनातन, शान्त, निरंश, निरामय आदि अनेक विशेषण सहजचैतन्यस्वरूपमें भी घटित होते हैं।

निकलपरमात्मा मुक्त होते ही लोकमें सर्वोपरि लोकके शिखरपर पहुंच जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसका यह कारण है कि आत्मामें उर्द्धवगमनका स्वभाव है। कर्मोंसे व शरीरसे मुक्त होनेपर एक ही समयमें उर्द्धवगति स्वभावसे जाकर वहाँ विराजमान रह जाते हैं, जिससे ऊपर लोक है ही नहीं। सिद्ध प्रभु लोकके ऊपर विराजमान हैं, इसे अनुभव भी कहता है। भक्त जीवोंकी प्रभुके सम्वन्धमें दृष्टि देनेका भाव होनेपर ऊपर ही चितारते हैं। इससे भी यही सिद्ध है कि सिद्ध भगवान् लोकके ऊपर विराजमान रहते हैं। लोकके वाहर भी ऊपर क्यों नहीं चले जाते ? इसका समाधान यह है कि जीवकी गतिमें निमित्त-कारण धर्मास्तिकाय है। आगे धर्मास्तिकाय न होनेसे लोकके ऊपर परमात्माका गमन नहीं होता है। ऐसा ही इसमें सहज निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध है।

सिद्ध आत्माओंका संसारमें पुनरागमन नहीं होता है। इसका कारण यह है कि संसारभावका अन्तरंग कारण तो आत्माकी मलीमसता है और वहिरंग कारण कर्मोंका उदय है। सिद्ध भगवान्के आत्मामें न तो मलीमसता है और न कर्मोंका सत्त्व है। उदय कहाँसे आवे ? अतः एक वार शुद्ध हो जानेपर आत्मा कभी भी अशुद्ध नहीं होता। काल पाकर स्वयं अशुद्ध हो जाय, इस सन्देहका भी अवकाश नहीं है, क्योंकि काल तो परिणमनमात्रमें

उपाधि व आधारके आधारका अब कर्मरूप उपाधि व शरीररूप आधार नष्ट हो गया, अब आत्मप्रदेशोंके संकोच व विस्तारका कोई कारण नहीं रहा, फिर कैसे फैल जावें और कैसे वटवीजादि प्रमाण हो जावें, अत: जिस आकारसे मुक्त हुए उसी आकार प्रमाण रहते हैं। आत्माका स्वभावत: कोई आकार नहीं है और न स्वभावत: आकारकी वृद्धि हानि है, किन्तु जैसे मूसमें मोम भरा था, अब प्रयोगसे मोम गल जाता है तो मूसका या आभूषणमें के पोलका आकार वही रह जाता है, जो मूसका था। इसी प्रकार कर्ममल गल जाने (नष्ट हो जाने) पर व शरीरसे भी मुक्त हो जानेपर मुक्त आत्माके प्रदेशोंका आकार वही रह जाता है, जिस प्रमाण पहिले थे।

निकलपरमात्मामें सकलपरमात्माकी भांति क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तवीर्य आदि तो हैं ही, साथ ही शरीर व अवशिष्ट कर्मोंसे मुक्त हो जानेके कारण अगुरुलघु, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व आदि भी प्रकट हो जाते हैं। निकलपरमात्मामें शरीरका सम्बन्ध न होनेसे तथा व्यावहारिकता न होनेसे निकलपरमात्मा का ध्यान निज शुद्धस्वरूपके ध्यानके लिये विशेषाधिक सहायक है। निकलपरमात्माका स्वरूप और चेतनके सहज स्वभावका स्वरूप एक समान शब्दोंसे विशेपित है। जैसे निकलपरमात्मा विराग हैं तो सहज चैतन्य स्वरूप भी विराग है। इसी तरह सनातन, शान्त, निरंश, निरामय आदि अनेक विशेषण सहजचैतन्यस्वरूपमें भी घटित होते हैं।

निकलपरमात्मा मुक्त होते ही लोकमें सर्वोपरि लोकके शिखरपर पहुंच जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका यह कारण है कि आत्मामें उर्द्ध्वगमनका स्वभाव है। कर्मोंसे व शरीरसे मुक्त होनेपर एक ही समयमें उर्द्ध्वगति स्वभावसे जाकर वहाँ विराजमान रह जाते हैं, जिससे ऊपर लोक है ही नहीं। सिद्ध प्रभु लोकके ऊपर विराजमान हैं, इसे अनुभव भी कहता है। भक्त जीवोंकी प्रभुके सम्बन्धमें दृष्टि देनेका भाव होनेपर ऊपर ही चितारते हैं। इससे भी यही सिद्ध है कि सिद्ध भगवान् लोकके ऊपर विराजमान रहते हैं। लोकके वाहर भी ऊपर क्यों नहीं चले जाते? इसका समाधान यह है कि जीवकी गतिमें निमित्तकारण धर्मास्तिकाय है। आगे धर्मास्तिकाय न होनेसे लोकके ऊपर परमात्माका गमन नहीं होता है। ऐसा ही इसमें सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

सिद्ध आत्माओंका संसारमें पुनरागमन नहीं होता है। इसका कारण यह है कि संसारभावका अन्तरंग कारण तो आत्माकी मलीमसता है और वहिरंग कारण कर्मोंका उदय है। सिद्ध भगवान्के आत्मामें न तो मलीमसता है और न कर्मोंका सत्त्व है। उदय कहाँसे आवे? अत: एक वार शुद्ध हो जानेपर आत्मा कभी भी अशुद्ध नहीं होता। काल पाकर स्वयं अशुद्ध हो जाय, इस सन्देहका भी अवकाश नहीं है, क्योंकि काल तो परिणमनमात्रमें

निश्चय धर्म

"धम्मो वत्थुसहावो" धर्म वस्तुका स्वभाव है अर्थात् जो वस्तुका स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। स्वभाव अनादि, अनन्त होता है। इस कारण स्वभाव व्यक्ति (पर्याय) रूपमें नहीं देखा जा सकता है, किन्तु स्वभाव अनादि-अनन्त शक्तिस्वरूपमें देखा जाता है। इस तरह आत्माका धर्म आत्माका अनादि अनन्त चैतन्यस्वभाव ही ठहरा। यह धर्म किये जानेकी चीज नहीं है। वह तो अनाद्यनन्त आत्मामें नित्य प्रकाशमान है ही। जो जीव पापभावरूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है तथा जो जीव पुण्यभाव रूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है तथा जो जीव इस धर्मकी दृष्टि रखते हैं व इसका चिर उपयोगरूप आलम्बन करते हैं उनमें भी यह धर्म है। अतः इस धर्मकी व्यावहारिकता तो नहीं बनती है, फिर धर्मका पालन ही क्या कहलाये ? इसका समाधान यह है कि इस वस्तुस्वभावरूप धर्मका श्रद्धान व उपयोगका रहना ही धर्मका पालन है। ऐसे धर्मपालनको ही निश्चयधर्मका होना कहा जाता है। अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध चैतन्यस्वभावका उपयोग होना सो निश्चयधर्म है और इसी कारण इस आत्मस्वभावपर दृष्टि न रहकर किन्हीं भी परपदार्थोंका उपयोग होना अथवा परपदार्थके विषयसे उत्पन्न हुए इष्ट अनिष्ट भावोंको अपनाना आदि सब अधर्म हो जाता है। निश्चयतः किसी भी प्रकारका राग व रागवश ही किया जानेवाला किसी भी ज्ञेयका उपयोग धर्म नहीं है। अद्वैतोपासनासे च्युत होकर बाह्यमें परमात्माकी भक्ति अथवा परमात्माका उपयोग भी धर्म नहीं है, क्योंकि वह परमात्मा भी परपदार्थ है। यह निश्चय धर्मकी भी व्याख्या की जा रही है, निश्चयके पूर्ववर्ती अथवा निश्चयके साधककी कथा नहीं है, व्यवहारधर्ममें इसका प्रतिपादन होगा। अतः इस प्रकरणमें प्रत्येक बातको निश्चयदृष्टि रखकर ही देखना है। परमनिश्चयधर्म तो आत्माका अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभाव है और निश्चयधर्म उस परमस्वभावका श्रद्धान व उपयोग है।

परमस्वभावका निर्णय प्रतिषेधगम्य अथवा अनुभवगम्य है। स्वभावकी समस्त परिणतियोंका भी निषेध करके स्वभाव जाना जाता है। शारीरिक कोई भी पर्याय जीवका स्वभाव नहीं; राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह जीवके स्वभाव नहीं; कल्पना, वितर्क, विचार जीवके स्वभाव नहीं; ध्यान जीवका स्वभाव नहीं; आंशिक प्रकट ज्ञान जीव का स्वभाव नहीं; पूर्णरूपसे प्रकट ज्ञानादि भी जीवका स्वभाव नहीं। इसका कारण यह कि इन उक्त बातोंमें कितने ही भाव तो परद्रव्यरूप हैं, कितने ही भाव औपाधिक भाव हैं, कितने ही भाव क्षायोपशमिक हैं, कितने ही भाव (केवलज्ञानादि) सादि हैं। स्वभाव अनादि अनन्त, निरुपाधि एवं अहेतुक होता है। जो इन सब पर्यायोंका आधारभूत स्रोत है वह स्वभाव है, किन्तु यह स्वभाव यदि किसी विधि द्वारा कहा जाता है तो वह विधि या तो

निश्चय धर्म

"धम्मो वत्थुसहावो" धर्म वस्तुका स्वभाव है अर्थात् जो वस्तुका स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। स्वभाव अनादि, अनन्त होता है। इस कारण स्वभाव व्यक्ति (पर्याय) रूपमें नहीं देखा जा सकता है, किन्तु स्वभाव अनादि-अनन्त शक्तिस्वरूपमें देखा जाता है। इस तरह आत्माका धर्म आत्माका अनादि अनन्त चैतन्यस्वभाव ही ठहरा। यह धर्म किये जानेकी चीज नहीं है। वह तो अनाद्यनन्त आत्मामें नित्य प्रकाशमान है ही। जो जीव पाप-भावरूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है तथा जो जीव पुण्यभाव रूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है तथा जो जीव इस धर्मकी दृष्टि रखते हैं व इसका चिर उपयोगरूप आलम्बन करते हैं उनमें भी यह धर्म है। अतः इस धर्मकी व्यावहारिकता तो नहीं बनती है, फिर धर्मका पालन ही क्या कहलाये? इसका समाधान यह है कि इस वस्तुस्वभावरूप धर्मका श्रद्धान व उपयोगका रहना ही धर्मका पालन है। ऐसे धर्मपालनको ही निश्चयधर्मका होना कहा जाता है। अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध चैतन्यस्वभावका उपयोग होना सो निश्चयधर्म है और इसी कारण इस आत्मस्वभावपर दृष्टि न रहकर किन्हीं भी परपदार्थोंका उपयोग होना अथवा परपदार्थके विषयसे उत्पन्न हुए इष्ट अनिष्ट भावोंको अपनाना आदि सब अधर्म हो जाता है। निश्चयतः किसी भी प्रकारका राग व रागवश ही किया जानेवाला किसी भी ज्ञेयका उपयोग धर्म नहीं है। अद्वैतोपासनासे च्युत होकर बाह्यमें परमात्माकी भक्ति अथवा परमात्माका उपयोग भी धर्म नहीं है, क्योंकि वह परमात्मा भी परपदार्थ है। यह निश्चय धर्मकी भी व्याख्या की जा रही है, निश्चयके पूर्ववर्ती अथवा निश्चयके साधककी कथा नहीं है, व्यवहारधर्ममें इसका प्रतिपादन होगा। अतः इस प्रकरणमें प्रत्येक बातको निश्चयदृष्टि रखकर ही देखना है। परमनिश्चयधर्म तो आत्माका अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभाव है और निश्चयधर्म उस परम-स्वभावका श्रद्धान व उपयोग है।

परमस्वभावका निर्णय प्रतिषेधगम्य अथवा अनुभवगम्य है। स्वभावकी समस्त परिणतियोंका भी निषेध करके स्वभाव जाना जाता है। शारीरिक कोई भी पर्याय जीवका स्वभाव नहीं; राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह जीवके स्वभाव नहीं; कल्पना, वितर्क, विचार जीवके स्वभाव नहीं; ध्यान जीवका स्वभाव नहीं; आंशिक प्रकट ज्ञान जीव का स्वभाव नहीं; पूर्णरूपसे प्रकट ज्ञानादि भी जीवका स्वभाव नहीं। इसका कारण यह कि इन उक्त बातोंमें कितने ही भाव तो परद्रव्यरूप हैं, कितने ही भाव औपाधिक भाव हैं, कितने ही भाव क्षायोपशमिक हैं, कितने ही भाव (केवलज्ञानादि) सादि हैं। स्वभाव अनादि अनन्त, निरुपाधि एवं अहेतुक होता है। जो इन सब पर्यायोंका आधारभूत स्रोत है वह स्वभाव है, किन्तु यह स्वभाव यदि किसी विधि द्वारा कहा जाता है तो वह विधि या तो

करना, मांस खाना आदि हिंसापरक जैसी वृत्ति हो ही न सके।

जैनोंका आचार व्यवहार अहिंसाके आधारपर तथा वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्माकी भक्तिपर एवं निस्तरङ्ग चिद्ब्रह्मकी उपासनापर आधारित है। जैनोंके सिद्धान्तमें गुरु निष्परिग्रह होते हैं। कुछ गुरुजनोंने परिग्रह रखना चाहा तो निष्परिग्रहकी व्याख्या आदिमें भेद डाला और इसके अनुकूल भगवान् और शास्त्रोंमें भी कुछ व्याख्याभेद किया और कुछ गुरुजन निष्परिग्रहके सिद्धान्तपर अडिग रहे। इन कारणोंसे जैनोंमें कितने ही सम्प्रदाय और हो गये। आजकल जैनोंमें सम्प्रदाय इतने हैं—दिगम्बर, मूर्तिपूजक, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथीश्वेताम्बर, तारणपंथीदिगम्बर। इन सभी सम्प्रदायोंका मूल उद्देश्य अहिंसा पालन है। अहिंसापालन पर कौन कितना चल पाता है? इसमें अवश्य अन्तर है। सभी जैनोंमें, मांस न खाना, रात्रि भोजन न करना, जल छान कर पीना, मदिरा पान न करना, शिकार न खेलना आदि अहिंसापरक व्यवहार कौलिक पद्धति व धर्मपद्धतिसे चलता है। जैनजन "मांसमें सतत सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न होते रहना" समझते हैं।

बौद्धोंका आचार व्यवहार भी अहिंसा और बुद्धकी भक्तिके आधारपर है, किन्तु बौद्ध मरे हुए प्राणीके मांसमें हिंसा नहीं समझते या समझते हों तो अशक्ति है, वे मृतमांसभक्षण को हिंसापरक नहीं समझते। हाँ यह अवश्य माना है कि प्राणीका घात नहीं करते हैं। "मांसमें सतत जीव उत्पन्न होते रहते हैं" इस पर संभव है कोई ख्याल ही नहीं गया हो। सेवा, परोपकारमें ये अपना जीवन लगाते हैं। बौद्धोंमें अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार व माध्यामिक— ये चार प्रसिद्ध हैं। सौत्रान्तिक व वैभाषिकको हीनयान कहा जाता है तथा योगाचार व माध्यमिकको महायान कहा जाता है। ये भेद दर्शनसम्बन्धी मतभेदके कारण हो गये हैं।

वैष्णवोंका आचार व्यवहार ईश्वरभक्तिके आधार पर है। इनमें अनेक सम्प्रदाय हैं—रामभक्त, कृष्णभक्त, याज्ञिक आदि। प्रायः इनका विश्वास है कि इस जगत्को ईश्वर अपनी इच्छानुसार बनाता है और मिटाता है। इन सम्प्रदायोंमें कहीं तो अहिंसाको आश्रय दिया है और रात्रिको भोजन करना, अनछना जल पीना तक भी निषिद्ध किया है तो कहीं धर्मके नामपर जीवित पशु अग्निमें होम देना भी विहित किया है, किन्तु हिंसापरक वाक्योंके भी अर्थ दो दो प्रकारसे लगाये जा सकते हैं—एकसे हिंसाको प्रश्रय मिलता, दूसरे अर्थसे हिंसाको प्रश्रय न मिलकर अध्यात्मवादको प्रश्रय मिलता है। इनके सिद्धान्तसे समय समयपर ईश्वर अवतार लेता है और किसी न किसी पद्धतिमें धर्ममार्गको बताता है। अवतारोंमें अनेक तो पशुवों तकके नामके हैं और श्री ऋषभ, राम, कृष्ण, बुद्ध आदिके नामके भी हैं।

है कि देह, मन व वचनकी ऐसी क्रियाओंके होनेमें योग निमित्त है और योगके होनेमें उस प्रकार आत्माका उपयोग निमित्त है, किन्तु किन्तु निमित्तमात्र पड़नेसे किसी वस्तुका परिणमन किसी अन्य वस्तुका धर्म नहीं हो जाता। विचाररूप भावमन भी आत्माका स्वभाव परिणमन नहीं होनेसे, निरुपाधि भाव नहीं होनेसे निश्चयधर्म नहीं। रागद्वेषादि भाव भी आत्माका स्वभावपरिणमन नहीं होनेसे निश्चयधर्म नहीं। परमस्वभावके अतिरिक्त अन्य पदार्थ या भावको लक्ष्य करके होनेवाला ज्ञान भी निश्चय धर्म नहीं, क्योंकि उस ज्ञानका विषय ध्रुवभाव नहीं है।

निश्चयधर्मका यदि भेदरूपसे वर्णन किया जावे तो निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र निश्चय धर्म है। अन्य समस्त परद्रव्योंसे रहित, समस्त परभावोंसे रहित शुद्ध ध्रुव चैतन्यस्वभावकी प्रतीतिको निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। यथार्थ स्वरूपमें निजगुण पर्यायमें तन्मय आत्मतत्त्वके ज्ञानको निश्चयसम्यग्ज्ञान कहते हैं। रागद्वेष संकल्प विकल्पसे दूर होकर आत्मस्वरूपके उपयोगमें स्थिर होने अथवा रागद्वेषरहित निर्विकार परिणमनको निश्चयसम्यक्चारित्र कहते हैं।

निश्चयधर्मरूप परिणामके होने पर भव भवके संचित भी अनेक कार्माण स्कन्ध निर्जरित हो जाते हैं, क्योंकि कर्मसंचय मिथ्यात्व व राग द्वेषके परिणामोंके होने पर हुआ था और उनका सम्बन्ध भी इन विकार परिणामोंके रहते हुए दृढ़ रहता है सो मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि विकारोंके अभावरूप निश्चयधर्मका जितना जितना अंश प्रकट होता जाता है, उसके अनुकूल कर्म निर्जरा होती ही है, ऐसा सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। इस जीवने अनादिसे अधर्मरूप परिणमन किया और इसीके परिणामस्वरूप नाना क्लेश सहे। अब इस दुर्लभ नर-जन्मको पाकर जिसमें रहते हुए आत्माके अन्य भवोंकी अपेक्षा अधिक ज्ञान व संयमरूप वर्तन हो सकता है—हमारा कर्तव्य है कि आत्माके परमस्वभावको समझें और इसके उपयोगरूप अवलम्बनसे निश्चयधर्मका पालन करें।

व्यवहारधर्म

'विशेषेण अवरणं व्यवहारः' अर्थात् विशेषरूपसे फैलानेको अथवा दूर रखनेको व्यवहार कहते हैं। व्यवहार कितने ही प्रकारका होता है—(१) निश्चयके स्वरूपको देखनेवाला व्यवहार, (२) निश्चयके स्वरूपको बतानेवाला व्यवहार, (३) निश्चयधर्मके अनन्तर पूर्ववर्ती भावरूप व्यवहार, (४) निश्चयधर्मके परम्परासाधक भावरूप व्यवहार, (५) निश्चयधर्मके परम्परासाधक भावके होनेपर होनेवाली मन वचन कायकी क्रियायें, (६) भावशून्य

हुई। इनमें भी मतभेद चलते रहे, जिससे सिया सुन्नी आदि सम्प्रदाय हो गये।

पारसी जन अग्निके उपासक होते हैं। यह अग्नि ब्रह्मतेजका प्रतीक है। पारसी शब्दको संस्कृतमें पार्श्वी कह सकते हैं—जो पार्श्व अर्थात् समीपस्थ परमात्मतत्त्वको माने सो पार्श्वी है। यह आत्मा स्वभावदृष्टिसे देखा गया ही कारणपरमात्मतत्त्व है।

राधावल्लभ—इस सम्प्रदायके भक्तजन प्रीतिरसकी प्रमुखता करके श्रीकृष्णजीके उपासक हैं। कोई कोई भक्त पुरुष तो राधाजी का रूपक रखकर उपासना व प्रीतियाचन करते हैं।

कबीरपंथी– यह एक आध्यात्मिक तत्त्व की प्रमुखतासे जीवन बितानेका भाव रखने वालोंका नवीन सम्प्रदाय है। स्कूल शिक्षाओं द्वारा, जो कि साधारण लोकजनोंको भी सुगम हो, मानस उच्च करना इनका ध्येय है।

सराक– यह श्रावक शब्दका अपभ्रंश है। ये प्राचीन कालसे जैन चले आते थे, परन्तु वातावरण इस योग्य न रहनेसे व उपदेश कम हो जानेसे जीवनमें साधारणता आ गई है। पारसनाथकी उपासना करना, रात्रिको न खाना इत्यादि चिह्न अब भी सराक भाइयोंमें उपलब्ध होते हैं।

शाक्त– जो शक्तिकी उपासना करते हैं वे शाक्त कहलाते हैं। ये देवी, देवताओं की शक्तिस्वरूपमें उपासना करते हैं। आचार व्यवहार सब प्रायः अन्य उपासकोंसे मिलते जुलते हैं।

आत्मस्वरूप

आत्मा शब्दका अर्थ है– 'अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा' जो निरंतर जाननेका कार्य करे सो आत्मा है। प्रत्येक आत्मा निरन्तर जानता ही रहता है, चाहे वह कभी क्रोधावेशमें हो, चाहे मानावेशमें हो, चाहे मायाच्छन्न हो, चाहे तृष्णाग्रस्त हो, चाहे समाधिरत हो, चाहे शांत हो, चाहे अनन्तानन्तदमय हो जानते रहते हैं प्रति समयमें। इसका प्रबल प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण यही है कि यदि ये क्रोध, मान आदिके समयमें जानते न होते क्रोध मान आदिका अनुभव या उत्पाद हो ही नहीं सकता था। इससे यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मा निरन्तर जानते रहते ही हैं। अतएव आत्माका स्वरूप ज्ञानमय है। जाननेके परिणमनमें आकुलता नहीं होती है, क्योंकि जानना औपाधिक भाव नहीं हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहके परिणाममें आकुलता है, क्योंकि एक तो क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, दूसरे स्वभावविकासके विपरीत परिणमन है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान आत्मा का स्वरूप है वैसे ही अनाकुलता अथवा आनन्द भी आत्माका स्वरूप है। इस प्रकार मुख्यतया आत्माका लक्षण ज्ञान और आनन्द है। शुद्ध ज्ञानको चित् भी कहते हैं। इस तरह

साधक भावोंके होनेपर होनेवाली ये क्रियायें उपचरतः व्यवहारधर्म कहलाते हैं।

(६) भावशून्य तत्सदृश क्रियायें उपरितोपचरित व्यवहारधर्म हैं। जैसी दैहिक क्रियायें ज्ञानी जीवोंके एक क्षेत्रावगाहित देहमें हो जाती हैं वैसी क्रियावोंसे हित व धर्मप्राप्तिकी आशा रखकर कल्याणकी इच्छासे वैसी अपनी भी क्रियायें कोई अज्ञानी जीव करे तो वाह्यमें तो ज्ञानी व अज्ञानी दोनों एक समान लग रहे हैं तथा कुछ कषाय भी मंद होती हुई भी देखी जाती है, अतः भावशून्य उन समान क्रियाओंको उपचरितोपचरित व्यवहारधर्म कहते हैं।

यह सब केवल वाह्यदृष्टि करके ही व्यवहृत होता है, क्योंकि अन्तरङ्गका तो वास्तव में पता होना कठिन है व वाह्य प्रवृत्ति ज्ञानियोंके देहादि क्रियाकी तरह दीखती है, अतः व्यवहारधर्म कहा जाता है। उक्त प्रकारके सब व्यवहारधर्मोंका अपनी-अपनी जगह प्रयोजन है और अपने-अपने प्रयोजन व स्थानके अनुसार फल है, किन्तु जहाँ तक जीवके भावों तकका व्यवहार है वहाँ तक तो उनका आत्माके लिये अधिक या हीन फल होता ही है। वाह्य अचेतन शरीरादिकी क्रियाका फल आत्मामें नहीं होता। व्यवहारधर्म परम्परया था कोई व्यवहारधर्म अनन्तर समयमें ही निश्चयधर्मका कारण पड़ता है। व्यवहारधर्म निश्चयतः आत्माका धर्म नहीं है, फिर भी व्यवहारधर्म आये विना किसी भी जीवने निश्चयधर्म प्राप्त किया नहीं और न कोई निश्चयधर्म पा सकेगा, परन्तु जो जीव व्यवहारधर्मको ही धर्म मानता है उसका वह भाव न तो निश्चयधर्मका कारण बन सकता है और न उसकी संज्ञा (व्यवहारधर्म) हो सकती है।

एक प्रकारके व्यवहारधर्मका वह भी स्थान है जिसे हम निश्चयधर्मके साथ ही हो तो व्यवहारधर्म कहते हैं। यदि निश्चयधर्मसे रहित कोई व्यवहार है तो वह व्यवहारधर्म नहीं है। विशुद्ध चैतन्यमात्र आत्माकी प्रतीतिवाले ज्ञानी जीवका प्रतीतिके अविरुद्ध जो भी क्रिया होती है उसे व्यवहारधर्म कहते हैं। जिन जीवोंने परपदार्थोंसे पृथक्, परभावों से भिन्न ज्ञानानन्दपुञ्ज आत्माका परिचय नहीं किया, उनकी क्रिया मिथ्या अभिप्रायोंके साथ चलती है। अतः आत्मासे अपरिचित जीवोंकी क्रिया व्यवहारधर्म नहीं है।

व्यवहारधर्म प्रयोजनवान् भी है व अप्रयोजनवान् भी है। निर्विकल्पभावमें स्थित न रहनेपर व्यवहारधर्म पापोंसे वचाता है, अतः प्रयोजनवान् है, अथवा सम्यक् ज्ञानका उपयोग जब तक नहीं पाया, उन जीवोंको सम्यक् मार्गमें ले जानेवाला हो सकनेके कारण प्रयोजनवान् है और निर्विकल्पसमाधिमें स्थित जीवोंको व्यवहारधर्म अप्रयोजनवान् कहते हैं।

मैत्री

सब जीवोंमें मित्रताके भावको मैत्री कहते हैं। मित्रताका भाव उनमें ही हो सकता

माया, पर्याय, विवर्त आदि कहते हैं यह स्वयं सृष्टिभूत है। इस तरह ब्रह्म व माया स्वरूप से तो अलग अलग हैं, किन्तु वस्तुमें एक हैं। इस तरह रहस्यका परिचय पा लेने वाला आत्मा अन्तरात्मा, महात्मा, योगी, वर्णी, सम्यग्दृष्टि, विवेकी, मर्मज्ञ, आस्तिक आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है। इस ब्रह्मस्वरूपके परिश्रममें अनुभवमें अलौकिक नैसर्गिक आनन्द प्राप्त होता है, जिस आनन्दके प्राप्त कर लेनेपर इन्द्रियविषयसुख धोखा, असार, माया, अहित, दुःखमय भ्रमकल्पित आदि प्रतीत होने लगते हैं। इस ही सहज आनन्दके बलसे कर्मेन्धन दग्ध हो जाते हैं, विषयकषाय जल जाते है।

आत्मा अनन्त गुण (शक्ति) मय है। एक एक गुणके अनन्तगुणोंके साहचर्यसे अनन्त वर्तमान प्रकार हैं। एक एक प्रकारके अनन्त (तीनों कालकी) पर्यायें हैं। एक एक पर्यायके न्त भाव हैं। एक एक भावमें अनन्त रस हैं। एक एक रसमें अनन्त प्रभाव हैं। इस ार अनन्त विलास (प्रभाव) मय यह आत्मा अनन्त ऐश्वर्यका प्रभु होनेसे ईश्वरस्वरूप कर अनन्त लीलाओंमें विचर रहा है। इस परमपुरुषके साथ अनादिसे अविद्याके कारण तिका बन्धन चल रहा है, जिसके परिणाममें अर्थात् प्रकृतिरूप बहिरंग उपाधि और वेद्यारूप अन्तरंग उपाधिके कारण नाना देहोंके बन्धन बना बनाकर भ्रमण कर रहा है दुःखी हो रहा है। जैसे यद्यपि स्फटिकपाषाण स्वभावतः स्वच्छ है तो भी यदि उसपर ा लाल आदि एक हो तो हरा लाल प्रतिबिम्बरूप हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा स्वभा- ः अविकार है तो भी आत्माके साथ उपाधि लगी है सो विकाररूप प्रवर्तमान हो जाता । जैसे डाक हटनेपर स्फटिक पाषाणका विकास स्वच्छ ही रहता है, इसी प्रकार प्रकृति ाधिके हटनेपर आत्माका विकास स्वच्छ अनन्त शुद्ध ज्ञानमय अनन्त सहज आनन्दमय ही ता है।

आत्माके सम्बन्धमें शीघ्र हो सकनेवाली भ्रांति तो यह हो सकती है कि आत्मा कोई तु ही नहीं, शरीर ही दिखता, जब तक शरीरके पेंच पुर्जे दिमाग दिल ठीक हैं तब तक से जिन्दा कहा जाता है और जब पेंच पुर्जे ढीले हो जाते हैं और फिर जब तक काम ल्कुल नहीं करते तब उसे मुर्दा कह देते हैं। इस भ्रान्तिके होनेका कारण यह है कि धारण लोकोंमें केवल इन्द्रियजन्य ज्ञानका विश्वास रहता है, परन्तु कुछ विशेष विवेक भेदबुद्धि) से काम लिया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक पदार्थोंकी ही तरह पनी स्वतन्त्रसत्तावाला आत्मा भी है। अचैतन्य व चैतन्य अत्यन्त विरुद्ध धर्म हैं। इनके ाश्रयभूत पदार्थ भी दो प्रकारके हैं—एक अचेतन, दूसरा चेतन।

चेतनद्रव्यकी समझ अहंप्रत्ययसे हो जाती है। जिसके प्रति अहं (मैं) कहा जाता है ाही चेतन (आत्मा) है। यदि शरीर ही जीव हो तो उपयोग अन्यत्र होनेपर शरीरकी चोट

स्वयं दुःखीकी आवश्यकता पूर्ण कर देना (वस्त्र भोजनादि दे देना) समझनेसे दुःखीको
उसकी आवश्यक सामग्री देता है। अतः अनुकम्पा वास्तवमें सुदकी ही है। ज्ञानी पुरुष
आत्मशान्तिके सन्मुख तीनों लोकोंके वैभवोंको तुच्छ समझता है। इसी कारण निज आत्मा
की शान्तिके लिये, सारा वैभव छोड़नेके लिये भावना रखता है और अन्य आत्माओंको किसी
वैभवके देनेसे यदि कुछ शान्ति होती हो तो इस प्रसंगमें उस वस्तुके त्याग कर देनेमें उसे
विलम्ब नहीं लगता।

अनुकम्पा एक वह उत्तम गुण है, जिस एक इस अनुकम्पाके होते हुए जीवन व्यतीत
हो तो सद्गति होती ही है, चाहे उसने व्रत, तप किया हो, चाहे न किया हो तथा अनुकम्पा
न हो सके और व्रत तप भले अनेक हो जायें तो उससे दुर्गति ही होती है। अनुकम्पाका
अन्तरंगभावसे सम्बन्ध है। इस अनुकम्पाका प्रयोजन भी समता है अर्थात् दुःखियोंका दुःख
मेटकर उनको अपने समान सुखी बनाना है। ज्ञानी जीवोंकी सभी प्राणियोंपर अनुकम्पा
रहती है। मनरहित जीवोंका संक्लेशसे मरण न हो, एतदर्थ स्वयं उनकी रक्षा करते हैं
और उपदेश देकर अन्य प्राणियोंको इस बातकी श्रद्धा कराकर उनसे रक्षा कराते हैं। मन
सहित जीवोंको सत्य तत्त्वार्थ स्वरूप समझकर उन्हें शान्तिमार्गमें लगाते हैं। ज्ञानी पुरुष
विविध अनुकम्पायें करके भी यह प्रतीति नहीं रखते कि मैं किसीका कुछ कर रहा हूं।
शुभ रागवश उनकी ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है कि उसका वह ज्ञाता द्रष्टा रहता है। सर्वोच्च
अनुकम्पा, संसारके क्लेशोंसे भयभीत होना और संसारसे सर्वसंकट टलें, ऐसा उद्यम करना
ही है और व्यवहार—अनुकम्पा जैसे संक्लेश परिणाम उपशान्त हों ऐसे संयोग मिलाना
है, जिससे उपशान्तसंक्लेश हो जानेकी अवस्थामें आत्माकी सावधानी की कुछ योग्यता आ
सके।

माध्यस्थ्य

अविनीत, क्रूराशय व विपरीत प्रवृत्तिवाले जीवोंमें रागद्वेष नहीं करने को माध्यस्थ्य
कहते हैं। ज्ञानी पुरुष चूंकि पूर्ण श्रद्धा रखते हैं कि किसी पदार्थकी परिणतिसे किसी अन्य
पदार्थका परिणमन नहीं हो जाता। अतः किसी भी जीवकी कैसी ही विरुद्ध वृत्ति हो उससे
वे कहीं रागद्वेष नहीं कर बैठते। माध्यस्थ्यमें तो समता प्रकट ही है। दुष्ट अभिप्रायवालों
से प्रेम करनेमें आपत्तियां आती हैं, जिनसे आत्महितके यत्नोंमें भी बाधा होती है तथा दुर्बु-
द्धिजनोंमें राग करनेकी ज्ञानीको कोई अटक भी नहीं है। ज्ञानीको तो राग धर्म, धर्मसाधन,
धर्मी जन व पात्र पुरुषोंमें हो सकता है। दुष्ट अभिप्रायवालोंसे द्वेष करनेमें भी अनेक आप-
त्तियां हैं जिनसे आत्महितके यत्नोंमें उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं तथा द्वेष करनेकी बात भी

आत्मा रूपरहित है। अतः वह चक्षु इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा रसरहित है, अतः आत्मा रसनाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा गन्धरहित है, अतः आत्मा नासिकाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शब्दरहित है, अतः वह श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शीतादि समस्त स्पर्शोंसे भी रहित है, अतः स्पर्शनइन्द्रियसे भी वह नहीं जाना जा सकता। आत्मा तो मात्र ज्ञानसे ही ग्रहणमें आ सकता है। आत्मा ज्ञान द्वारा ग्रहणमें आ जावे इसका मुख्य साधन निर्विकल्पता है। कोई भी विकल्प न उठे तो आत्मा झटिति अनुभवमें आ जाता है। विकल्प न उठे इसके अर्थ आत्मा व परपदार्थोंके स्वलक्षण स्वलक्षणके परिचयसे भेदविज्ञान करना आवश्यक होता है।

आत्मा समस्त अचेतनपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। अन्य समस्त चेतनपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाहमें रहने वाला तैजस व कार्माण शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। यह तैजस व कार्माण शरीर यद्यपि मरणके बाद अन्य भवमें जाते हुए जीवके साथ साथ ही जाता है तथापि इन अचेतन पदार्थोंका स्वरूप आत्मस्वरूपमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाला यह शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार समस्त अचेतन पदार्थोंसे, अन्य समस्त चेतन पदार्थोंसे, तैजस व कार्माण शरीरसे, इस स्थूल शरीरसे अत्यन्त भिन्न यह आत्मा है।

आत्माके आधारमें होनेवाले बाह्यतत्त्वोंसे भी आत्मा निराला है—रागद्वेषादि विभाव चूंकि औपाधिक भाव हैं अतः इन औपाधिक भावोंसे भी आत्मा निराला है। अपूर्णज्ञान, विचार, वितर्क चूंकि पूर्णस्वरूप नहीं है, अतः आत्मा इनसे भी निराला है। परिपूर्ण ज्ञान आदि परिणमन भी चूंकि सादि है तथा क्षण क्षणके परिणमन हैं, अतः इस परिपूर्ण विकास परिणमनसे भी आत्मा निराला है। इन सबसे निराला एक आत्मा है। इस तरहके विकल्पमें भी आत्मस्वरूप अनुभूत नहीं होता। अतः ऐसा एक भी आत्मा नहीं है, किन्तु समस्त विकल्पजालोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वभावको प्रकट करते हुए अनुभवमें जो अनुभूत होता है वही आत्मा है।

यह आत्मा निश्चयतः शुद्ध है, बुद्ध है, नित्य है, निरञ्जन है, टङ्कोत्कीर्णबिम्बकी तरह निश्चल है, परमात्मा है, परमेश्वर है, ज्ञानमय है, आनंदमय है; सर्वकामनाओंसे रहित है, अविकार है, चैतन्यमात्र है। इसके अनुभवमें जो आनंद है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। आत्ममस्वरूप ही परमब्रह्म, ईश्वर, भगवान् आदिके रूपसे ध्याया जाता है। ॐ नमः समयसाराय, ॐ शुद्धं चिदस्मि, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।

[illegible] है, [illegible] और न [illegible] [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है।

गृहस्थ धर्म

[illegible] है, [illegible] पूर्ण निर्ग्रन्थ- [illegible] है। [illegible] समागम मिलता है [illegible] है। [illegible] परिग्रह [illegible] है कि [illegible] निरक्त व पृथक् [illegible], किन्तु [illegible] है। [illegible] और [illegible] सकते हैं। अतः [illegible] है। जब इसी परिग्रह [illegible] प्रयोजन भी [illegible] पड़ता, अतः उसके पीछे उद्यम करना पड़ता, ममता पूर्ण संचय करना पड़ता, किन्तु ज्ञानी गृहस्थ परिग्रहका परिमाण कर लेता है कि मैं इतना आवश्यक परिग्रह रखूँगा, इसके अतिरिक्त अन्य सब परिग्रहका त्याग है, फिर अन्य परिग्रहमें न लालसा रखता है, न विशेष परिग्रहीको देखकर आश्चर्य करता है। ऐसे विरक्त भावमें रहनेवाला ज्ञानी गृहस्थ किसी भी समागममें आसक्त नहीं होता, न समागमसे लाभ या हित मानता है और न समागममें हर्ष मानता है। सद्गृहस्थकी सदा यह भावना रहती है कि कब समस्त परिग्रहसे मुक्त होकर केवल आत्मध्यानमें ही रहूँ। किन्तु जब तक निर्ग्रन्थ अवस्था नहीं पाता है तब तक देव-भक्ति, गुरुसेवा, ज्ञानार्जन, यथाशक्तिसंयम, इच्छानिरोध, दान आदि सत्कार्योंमें प्रवृत्त होता है।

ज्ञानी गृहस्थ वीतराग सर्वज्ञ परमात्माके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपने स्वरूपकी परख कर करके निजस्वरूपके अनुभवका आनन्द लेता रहता है। उसकी दृढ़ श्रद्धा है कि देव वही आत्मा है जो राग द्वेषादि सर्व दोषोंसे रहित है व सर्वज्ञ है, यही परमात्माका स्वरूप है। यह उपासक ऐसा ही होना चाहता है, अतः उसकी भक्ति देवमें उत्पन्न होती है। देवभक्तिसे पापका क्षय व पुण्यका संचय भी होता है। सशरीर परमात्माके साक्षात् दर्शन व भक्तिको देवभक्ति कहते हैं व उनकी मूर्तिमें उनकी स्थापना करके मूर्तिके समक्ष उनके गुणोंके स्मरण संस्तवनको भी देवभक्ति कहते हैं तथा किसी भी स्थानपर एकान्त में भी परमात्माके गुणस्मरणको देवभक्ति कहते हैं। देव वह है जिसमें क्षुधा,

वर्गणायें कर्मरूपसे परिणम जाती हैं। जैसे खाये हुए भोजनमें प्रकृति पड़ जाती है कि इतने स्कन्ध हड्डीरूपसे परिणमेगी, इतने खून, विष्टा, मूत्र आदिरूपसे परिणमेगी व इनमें प्रदेश संख्या भी हो जाती है। इतना भोजन इस प्रकृतिरूप होगा, इतना भोजन इस प्रकृति-रूप तथा यह भी विभाग हो जाता है कि हड्डीरूपसे परिणमनेवाला स्कन्ध इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा व खून रूपसे परिणमनेवाला स्कन्ध (भोजनस्कन्ध) इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा, विष्टामूत्र वाला इतने दिनों शरीरमें रहेगा एवं अनुभाग (शक्ति) भी बन जाता है कि हड्डीवाले स्कन्ध इतनी शक्तिका फल देंगे, वीर्यवाला स्कन्ध उससे अधिक शक्तिका फल देंगे इत्यादि। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाते हैं, उनमें तभी प्रकृति बन जाती है ये कर्म ज्ञानके घातका निमित्त होंगे, ये शरीररचनाके कारण होंगे इत्यादि व प्रदेशविभाग भी होता है। इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी, इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी व स्थिति भी पड़ जाती है, अमुक कर्म इतने दिनों आत्माके साथ रहेंगे, अमुक कर्म इतने दिनों साथ रहेंगे व अनुभाग भी पड़ जाता है कि अमुक कर्म इतनी शक्तिका फल देंगे, अमुक कर्म इतनी डिग्री का फल देंगे इत्यादि।

आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्तिका पिण्ड है अर्थात् सत् (शक्ति) चित् (ज्ञान) दर्शन, आनंदमय है। इन गुणोंका शुद्ध विकास संसारी जीवोंमें नहीं पाया जा रहा है। आत्माका स्वभाव है कि सत्यको सत्यरूपसे प्रतीति करे और परकी ओर आकृष्ट न होकर अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित (संयत) रहे, किन्तु संसारी जीवोंके इस स्वभावके भी प्रायः विपरीत परिणमन पाया जा रहा है। आत्मा सूक्ष्म एवं अमूर्त है, किन्तु संसार अवस्था में जीव देहबन्धनबद्ध बन रहा है। आत्मा पूर्ण एवं एकस्वरूप है, किन्तु संसार अवस्थामें उच्च अथवा नीचरूपसे जीव व्यवहृत हो रहे हैं। आत्माका परमैश्वर्य स्वभाव है, किन्तु चारों गतियोंमें संसारी जीव भटक रहा है। इन सब बाधाओंका कारणभूत जो तत्त्व है वह कर्म है।

कर्म निमित्त है, आत्माके रागादि विकार होना नैमित्तिक है। जैसे मदिरापानका निमित्त पाकर मनुष्य मतवाला हो जाता है, इसी प्रकार कर्मके उदयादिको निमित्त पाकर जीव नाना विकारोंरूप, अपूर्ण विकासरूप परिणम रहा है। जैसे स्फटिक तो स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु लाल पीले आदि डाक उपाधिका संयोग पाकर लाल पीला आदि प्रतिबिम्ब रूप परिणम जाता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु कर्म उपाधिका निमित्त पाकर नाना विकाररूप परिणम जाता है। जैसे जल तो स्वच्छ है किंतु कर्दम, शेवाल आदिके संयोगको निमित्त पाकर मलिन प्रतिभास होता है। वैसे आत्मा तो स्वच्छ है किन्तु कर्मउपाधिका निमित्त पाकर आत्मा मलिन प्रतिभास होता है। जैसे सूर्य तो

शब्द नहीं सुनना, सो ये इन्द्रियसंयम कहलाते हैं। इज्जत प्रतिष्ठादि नहीं चाहना सो मनःसंयम कहलाता है। ज्ञानी गृहस्थका भाव चूंकि सर्वविषय त्याग करके निर्विषय चैतन्य-स्वरूपकी आराधनामें बने रहना है। अतः उक्त इन्द्रियसंयमके पालन करनेके लिये वह यत्नशील रहता ही है। गृहस्थ ज्ञानी जीवके जब जब जो इच्छा उत्पन्न हो उस इच्छाको दूर करनेका भाव बना रहता है और यथाशक्ति इच्छाओंका निरोध करता है, यही गृहस्थका एक तप है। ज्ञानी गृहस्थ आजीविकाके न्यायपूर्ण उपायोंसे जो आर्थिक लाभ पाता है, उसीके अन्तर्गत हिस्सेमें ही अपना सबका गुजारा करता है, क्योंकि कर्ज लेकर आरामके साधन जुटाने पर एक शल्य हो जाती है; जिससे वह धर्मका पालन नहीं कर सकता। गृहस्थोंका यह भी एक तप है कि गृहस्थको जितना समागम प्राप्त हुआ है वह चेतन हो या अचेतन हो उनमें आसक्त नहीं होना, उनके समागममें हर्षविभोर न हो जाना। जो संयोगमें हर्ष नहीं मानते वे वियोगमें भी दुःखी नहीं होते। गृहस्थका एक मुख्य कर्तव्य दान है। व्यवसायादि व्यवहारमें जो पाप होता है उसकी शुद्धि दान (त्याग) से होती है। अर्थोपार्जनमें होनेवाले पापकी शान्ति अर्थके त्यागसे ही होती है, किन्तु अर्थका त्याग यदि खोटे कार्योंमें लगाता है तो वह उसकी विषयपुष्टिका कारण होनेसे दान नहीं कहलाता है। ज्ञानी गृहस्थ चार प्रकारके दानको भक्तिपूर्वक करता है—(१) गृहस्थ, साधु, आर्या, त्यागी, व्रती, सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको भक्तिपूर्वक सविधि आहारदान देता है। दीन दुःखी जनोंको भी दयापूर्वक आहारदान करता है। (२) गृहस्थ रुग्ण साधु श्रावकोंको उनके आहारके समय प्रासुक औषधिदान देता है। साधारण जनोंको भी औषधालय आदिकी व्यवस्था करके उनके योग्य औषधिप्रदान करता है। (३) ज्ञानी गृहस्थ साधु, त्यागियोंके योग्य वसतिका, कुटी, कमरोंकी व्यवस्था करके तथा उनके योग्य वचनोंको बोलते हुए किसी प्रकारका भय दूर करके व अन्य प्रकारसे अभयदान देता है। साधारण लोकोंके लिये भी धर्मशाला, भवन, आवास, प्रकाश आदिकी सुविधा देकर अभयदान करता है। अन्य अनेक प्रकारोंसे जीवोंकी रक्षा करा कर अभयदान करता है। (४) ज्ञानी गृहस्थ साधु, विद्वानोंको योग्य शास्त्रोंको प्रदान करके, अनेक शास्त्रोंका प्रकाशन करके शास्त्रदान करता है। साधारण जनोंको भी उपदेश देकर, उपदेशव्यवस्था करके, विद्यालय खुलवा करके, अन्य भी अनेक उपायोंको करके ज्ञानदान करता है। इस प्रकार गृहस्थ अपने योग्य धार्मिक कर्तव्योंमें कभी प्रमाद नहीं करता है। धार्मिक कार्योंमें तन, मन, वचन व धन लगाकर संतुष्ट रहता है।

हित मित प्रिय वचन बोलना गृहस्थोंका भी भूषण है एवं कर्तव्य है। गृहस्थोंको अनेक प्रकारके मनुष्योंसे समागम होता है, उनसे अधिक बोलनेसे आत्माका ध्यानबल शिथिल हो जानेसे ऐसी बातोंका प्रयोग हो जायगा जो हितरूप भी न हो और प्रिय भी न हो। फिर

हैं ? इसका मुख्य उत्तर तो यह है कि कर्म जीवको फल नहीं देते, किन्तु जीव ही उन उन कर्मोंको निमित्त पाकर वैसे वैसे फल पाता रहता है। कर्म भी क्या है ? पहिले किये गये रागादि करनीके प्रतिरूप, जिससे यह तो निःसंशय सर्वसम्मत है ही कि जीव अपनी करनीका फल पाता रहता है। ये कर्म जीवके साथ कब तक बंधे रहते हैं याने कब तक इनका सत्व रहता है अथवा कर्मोंकी कितनी स्थिति होती है ? इसका विवरण नाना व्यवस्थावोंमें है। ज्ञानावरण कर्मकी, जघन्य स्थिति एक मुहूर्तसे भी बहुत कम है। यह स्थिति उनके ही होती है जो योगी मोहका समूलक्षय करके वीतराग तो हो चुके हैं, किन्तु सर्वज्ञ, परमात्मा नहीं हुए हैं। ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। यह काल असंख्यात युगोंका होता है। यह स्थिति मोही जीवोंके होती है। दर्शनावरणकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति आदि ज्ञानावरणकी तरह है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, यह भी वीतराग योगियोंके होती है। वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोहियोंके होती है। मोहनीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, यह स्थिति वीतराग होनेके निकट सन्मुख हुए योगियोंके होती है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह तीव्रमोहियोंके होती है। आयुकर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति क्षुद्र तिर्यञ्च व क्षुद्र मनुष्योंके ही हो सकती है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की होती है, यह स्थिति भी असंख्यात युगोंकी है और यह स्थिति अधमाधम नारकी या उत्कृष्टोत्कृष्ट देवके होती है। नामकर्मकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति अशरीर (सिद्ध) होनेके सन्मुख हुए सर्वज्ञ परमात्मा (सशरीर परमात्मा) के होती है। नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोही जीवके होती है। गोत्रकर्मकी भी बात नामकर्मकी तरह है। अन्तराय-कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति सर्वज्ञानके सन्मुख हुए वीतराग योगियोंके होती है। अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह स्थिति मोही जीवोंके अन्तरायकर्मकी होती है।

उन सब बद्धकर्मस्कंधोंमें अनुभागशक्ति भी बन्धके समय ही हो जाती है--अर्थात् वे कर्म उदय व उदीरणाके समय अपनी प्रकृतिरूपसे कितनी डिगरीके फल देनेमें कारण हो सकते हैं ऐसा अनुभागबन्ध हो जाता है। शुभ, अशुभ परिणामोंसे बांधे गये होनेके कारण कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुण्यकर्म, दूसरा पापकर्म। पुण्यकर्ममें अनुभाग ४ प्रकार का होता है—गुड़, खांड, मिश्री व अमृतकी तरह उत्तरोत्तर मधुर अनुभाग। पापकर्ममें भी अनुभाग चार प्रकारका होता है—नीम, कंजी, विष व हालाहलकी तरह कटु अनुभाग। अनुभागकी ये चार चार जातियाँ है, एक एक जातिमें अनेक अनेक प्रकारका अनुभाग होता

नहीं है जिसकी प्राप्ति हित करती हो। अतः मान करनेका कोई स्थान ही नहीं। इसी कारण ज्ञानी गृहस्थके मानकषाय स्वयं मन्द रहती है। माया तो कुटिल वृत्ति है। ज्ञानी गृहस्थके मायाकी वृत्ति अत्यन्त मन्द रहती है। लोभ भी सर्व-आपदाओंका बीज है। लोभके कारण चित्तमें सदा आकुलता रहती है। लोभीका दिल सदा हल्का रहता है और उसके चिन्ताओंका ढेर लगा रहता है। ज्ञानी गृहस्थ समस्त परद्रव्यको अहित व भिन्न समझता है। इस कारण उसके दिलमें लोभ घर नहीं कर पाता है अर्थात् ज्ञानी गृहस्थके लोभकषाय मन्द रहती है। चारों कषायोंके मन्द होनेसे ज्ञानी गृहस्थका जीवन गृहमें रहते हुए भी विराग जीवन है।

गृहस्थ अपने कर्तव्योंका पालन करता रहे तो वह अवश्य आत्मानुभवका अधिकारी होता है। आत्मानुभवसे ही सर्वसिद्धि है।

मूल-आचरण

सत्यश्रद्धा, न्यायवृत्ति एवं भक्ष्य पदार्थका ही उपयोग— ये तीन आचरण गृहस्थोंके मूल आचरण हैं। जैसे नींव विना मकान नहीं बनता, जड़ बिना वृक्ष खड़ा नहीं होता, इसी प्रकार इन तीन आचरणोंके विना गृहस्थ सदाचारी नहीं कहा जा सकता। अतः इन तीनोंको मूल गुण अथवा मूल आचरण कहते हैं।

सत्यश्रद्धा—जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही विश्वास करना सो सत्यश्रद्धा है। पदार्थ किस प्रकारके हैं इसके जाननेके लिये इसी पुस्तकके प्रारम्भमें लिखित विश्वके पदार्थ, जगतके जीवोंकी स्थिति, चेतनकी महिमा, क्लेशमुक्तिका उपाय, दृष्टिवाद व विश्वव्यवस्था-- इन प्रकरणोंका अवलोकन करना चाहिये। जिन सबका सारांश यह है कि प्रत्येक जीव, प्रत्येक परमाणु एवं आकाशादि सभी पदार्थ स्वतन्त्र सत्तावान हैं, वे सभी अपने-अपने परिणमनसे परिणमते हैं। अतः किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थका अन्य कोई चेतन अथवा अचेतन पदार्थ न तो अधिकारी है, न स्वामी है और न कर्ता है। ऐसे अपने-अपने स्वरूपमें अवस्थित पदार्थको स्वतन्त्र-स्वतन्त्र निरखना व वैसा ही विश्वास करना ज्ञानी गृहस्थका प्रथम मूल आचरण है। स्वतन्त्रताकी प्रतीतिवाला महापुरुष परतन्त्रभावका आदर नहीं करता है। वह परपदार्थविषयक उपयोगमें होनेवाले रागद्वेषादि विकारोंसे दूर रहकर शुद्ध स्वतन्त्र निजकलामें ही विहार करना चाहता है। इसी कारण जो वीतराग एवं सर्वज्ञ हैं ऐसे परमात्माकी ओर अधिकतया दृष्टि बनाता है तथा वीतरागता प्राप्त होनेका उपाय जिन शास्त्रोंमें किसी न किसी रूपमें सत्यताके साथ मिलता है; उन शास्त्रोंका अध्ययन

है ? इसका मुख्य उत्तर तो यह है कि कर्म जीवको फल नहीं देते, किन्तु जीव ही उन उन कर्मोंको निमित्त पाकर वैसे वैसे फल पाता रहता है। कर्म भी क्या है ? पहिले किये गये रागादि करनीके प्रतिरूप, जिसमे यह तो नि:संशय सर्वसम्मत है ही कि जीव अपनी करनीका फल पाता रहता है। ये कर्म जीवके साथ कब तक बंधे रहते हैं याने कब तक इनका सत्व रहता है अथवा कर्मोंकी कितनी स्थिति होती है ? इसका विवरण नाना व्यवस्थावोंमें है। ज्ञानावरण कर्मकी, जघन्य स्थिति एक मुहूर्तसे भी बहुत कम है। यह स्थिति उनके ही होती है जो योगी मोहका समूलक्षय करके वीतराग तो हो चुके हैं, किन्तु सर्वज्ञ, परमात्मा नहीं हुए हैं। ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। यह काल असंख्यात युगोंका होता है। यह स्थिति मोही जीवोंके होती है। दर्शनावरणकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति आदि ज्ञानावरणकी तरह है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, यह भी वीतराग योगियोंके होती है। वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोहियोंके होती है। मोहनीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, यह स्थिति वीतराग होनेके निकट सम्मुख हुए योगियोंके होती है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह तीव्रमोहियोंके होती है। आयुकर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति क्षुद्र तिर्यञ्च व क्षुद्र मनुष्योंके ही हो सकती है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की होती है, यह स्थिति भी असंख्यात युगोंकी है और यह स्थिति अधमाधम नारकी या उत्कृष्टोत्कृष्ट देवके होती है। नामकर्मकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति अशरीर (सिद्ध) होनेके सन्मुख हुए सर्वज्ञ परमात्मा (सशरीर परमात्मा) के होती है। नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोही जीवके होती है। गोत्रकर्मकी भी बात नामकर्मकी तरह है। अन्तराय-कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति सर्वज्ञानके सन्मुख हुए वीतराग योगियोंके होती है। अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह स्थिति मोही जीवोंके अन्तरायकर्मकी होती है।

उन सब बद्धकर्मस्कन्धोंमें अनुभागशक्ति भी बन्धके समय ही हो जाती है--अर्थात् वे कर्म उदय व उदीरणाके समय अपनी प्रकृतिरूपसे कितनी डिगरीके फल देनेमें कारण हो सकते हैं ऐसा अनुभागबन्ध हो जाता है। शुभ, अशुभ परिणामोंसे बांधे गये होनेके कारण कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुण्यकर्म, दूसरा पापकर्म। पुण्यकर्ममें अनुभाग ४ प्रकार का होता है—गुड़, खांड, मिश्री व अमृतकी तरह उत्तरोत्तर मधुर अनुभाग। पापकर्ममें भी अनुभाग चार प्रकारका होता है—नीम, कंजी, विष व हालाहलकी तरह कटु अनुभाग। अनुभागकी ये चार चार जातियाँ है, एक एक जातिमें अनेक अनेक प्रकारका अनुभाग होता

रसनेन्द्रियरोध है।

(१३) घ्राणेन्द्रियरोध—सुगन्धित पदार्थोंके गन्ध लेनेका राग न होने देना सो घ्राणेन्द्रियरोध है।

(१४) चक्षुरिन्द्रियरोध—सुन्दर रूपोंके अवलोकनका राग न होने देना सो चक्षुरिन्द्रियरोध है।

(१५) श्रोत्रेन्द्रियरोध—रागभरे शब्द, गायन आदि सुननेका राग न होने देना सो श्रोत्रेन्द्रियरोध है।

(१६) केशलुञ्च—दो या तीन या चार माहमें केशोंको मूंछ दाढ़ी व शिरके बालोंको उखाड़कर अलग कर देनेको केशलुञ्च कहते हैं। निष्परिग्रह व निर्ममत्व साधुको नाई आदिसे बाल बनवानेका खुद उस्तरा वगैरहसे बना लेनेका भाव ही नहीं होता है। केशलुञ्चमें स्वाधीनता, निर्ममता, ब्रह्मचर्य आदिका प्रकाश होता है।

(१७) समता—सुख दुःख, प्रशंसा निन्दा, लाभ अलाभ, भवन वन आदिमें सर्वत्र समताभाव रखना सो समता है।

(१८) वन्दना—किसी तीर्थङ्कर अथवा केवलीका वन्दन, नमस्कार करनेको वन्दना कृति कहते हैं।

(१९) स्तवन—परमात्माके गुणोंका, स्वरूपका भक्तिपूर्वक स्तवन, कीर्तन करनेको स्तवन कृति कहते हैं।

(२०) प्रतिक्रमण—लिये हुए व्रतोंमें किसी प्रकार दोष लगनेपर उसका प्रायश्चित्त लेनेको प्रतिक्रमण कहते हैं।

(२१) स्वाध्याय—ज्ञानवृद्धि व ज्ञानोपासनाके अर्थ शास्त्रोंको बांचना, किसी तत्त्वके बारेमें पूछना, किसी तत्त्वका बार-बार मनन करना, किसी ज्ञानप्रकरणको याद करना, धार्मिक उपदेश करना या सुनना—ये सब स्वाध्याय हैं। स्वाध्यायमें स्व याने आत्माका अध्याय याने मनन प्रधान है।

(२२) कायोत्सर्ग—शरीर आदि समस्त उपाधियोंका ममत्व छोड़ना व ममत्व छोड़कर ध्यानमें लीन होना सो कायोत्सर्ग है।

(२३) आचेलक्य—आरम्भ व परिग्रहके पाससे मुक्त होनेके लिये समस्त परिग्रहोंके त्यागके साथ वस्त्रका भी त्याग कर देना व यथाजात बालककी तरह नग्न रहना सो आचेलक्य है। वस्त्रके रखनेमें धोना, संभालना, सुखाना, सीना, चिंता करना, विकार छिपाना आदि अनेक दोष होते हैं। इसलिये नग्न रहना साधुवोंके मूल आचरण हैं।

(२४) अस्नान—स्नान नहीं करनेको अस्नान कहते हैं। साधुपुरुष शरीरकी सेवा

के विचारोंको और विचारोंमें आये हुए रूपी पदार्थोंको जानना मनःपर्ययज्ञान है और जो मनःपर्ययज्ञानको न होने दे उसे मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं। ५–केवलज्ञानावरण—तीन लोक व तीन कालके सब पदार्थोंको केवल आत्मीय शक्तिसे एक साथ स्पष्ट जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं और जो केवलज्ञान प्रगट न होने दे उसे केवलज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण— उसे कहते हैं जिसके उदयसे आत्माका दर्शनगुण प्रगट न हो। दर्शनावरणसम्बंधी ९ प्रकृतियां हैं— (१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानगृद्धि।

१–चक्षुर्दर्शनावरण— चक्षुरिन्द्रियके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उससे पहले होने वाले सामान्यप्रतिभासको चक्षुर्दर्शन कहते हैं। उसे जो प्रगट न होने दे उसे चक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं। २–अचक्षुर्दर्शनावरण—नेत्रके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होने वाले ज्ञानके पहले जो सामान्य प्रतिभास है वह अचक्षुर्दर्शनको प्रगट न होने दे, उसे अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं। ३–अवधिदर्शनावरण— अवधिज्ञानसे पहले होनेवाले सामान्यप्रतिभास को अवधिदर्शन कहते हैं और जो अवधिदर्शनका आवरण करे, उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। ४–केवलदर्शनावरण—केवलज्ञानके साथ साथ होनेवाले सामान्यप्रतिभासको केवलदर्शन कहते हैं और जो केवल दर्शनको प्रगट न होने दे, उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं। ५–निद्रा (दर्शनावरण कर्म) उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नींद आवे। ६–निद्रानिद्रा उसे कहते हैं—जिसके उदयसे पूरी नींद लेकर भी फिर सो जावे। ७–प्रचला उसे कहते हैं—जिसके उदयसे बैठे बैठे या कोई कार्य करते करते सोता रहे, अर्थात् कुछ सोता रहे, कुछ जागता रहे। ८–प्रचलाप्रचला उसे कहते हैं–जिसके उदयसे सोते हुए मुखसे लार बहने लगे और अंग उपांग भी चलते रहें। ९–स्त्यानगृद्धि उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नींदमें ही अपनी शक्तिसे बाहर कोई काम करले और जगनेपर मालूम भी न हो कि मैंने क्या किया ? वेदनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके विषयका अनुभव हो। इससे जीव सुख या दुःखका वेदन करता है। वेदनीयकर्मके २ भेद हैं– (१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। १–सातावेदनीय उसे कहते हैं–जिसके उदयसे इन्द्रियसुखरूप अनुभव हो। २–असातावेदनीय उसे कहते हैं–जिसके उदयसे दुःखरूप अनुभव हो।

मोहनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे मोह, राग और द्वेष उत्पन्न हो। इसके मूल २ भेद हैं—[१] दर्शनमोहनीय, [२] चारित्रमोहनीय। १–दर्शनमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका घात हो। चारित्रमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके चारित्र गुणका घात हो।

[illegible]

[illegible] होती है और जो [illegible] हैं वे साधु [illegible]

[illegible] भिन्नता भी हो जाती है तो

[illegible] और [illegible]

[illegible] भिन्नता आवे तो

[illegible] ये साधु कहलाते हैं, किन्तु [illegible] निष्परिग्रह साधु

[illegible] ज्ञानी, ध्यानी, [illegible], निरारम्भ, [illegible] होते रहते हैं।

[illegible] जगतके [illegible] तीर्थ है। ॐ नमः सत्य-

[illegible]

[illegible]

परमेष्ठित्व

साधुजन स्वयं परमेष्ठी हैं तथा जब अभेद आत्मोपासनाके बलसे परम आत्मसिद्धि पा लेते हैं तब उन आत्माओंके विशिष्टतया परमेष्ठित्व प्रकट हो जाता है। परमेष्ठी उसे कहते हैं जो परमपदमें स्थित हो। परमेष्ठी पांच प्रकारके होते हैं—(१) सशरीर परमात्मा, (२) अशरीर परमात्मा, (३) साधुनायक, (४) पाठक साधु व (५) साधु।

कोई गृहस्थ पुरुष वस्तुस्वरूपके यथार्थ अवगम व भेदविज्ञानके दृढ़तर अभ्यासके कारण जब बाह्यविषयोंसे विरक्त हो जाता है, जिससे वह किसी साधुनायकके समीप जाकर सर्वपरिग्रह त्यागमय साधुदीक्षाकी प्रार्थना करता है। साधुनायक भी उसकी पात्रता देखकर साधुदीक्षा दे देता है। वह महापुरुष जिसने कि सर्वपरिग्रहका त्याग किया तथा ज्ञान ध्यान व तपस्यामें लीन रहनेका संकल्प किया, वह पुरुष साधु परमेष्ठी कहलाता है। साधुका क्या धर्म है और मूल आचरण क्या है? यह विषय साधुमूलाचार नामक प्रकरणमें आ चुका है। साधु पुरुषको किसी भी लौकिक बातका रंच भी प्रयोजन नहीं रहता है। वे केवल आत्मार्थी होते हैं। अतएव साधुकी अहोरात्रचर्या समाधिभावपोषक रहती है जो कि शान्तिका सत्य-मार्ग है। इसी कारण साधु पुरुष अन्य लोगोंके लिये आदर्शरूप हैं, अनुकरणीय हैं, वन्दनीय हैं। इसी हेतु वे परमेष्ठी कहलाते हैं।

इन्हीं साधुवोंमें जो साधु बहुज्ञानी हैं व जिनके हृदयमें जीवोंके प्रति ज्ञानमय सत्य-मार्गके उपायसे उनके दुःख दूर होनेकी भावना भी रहती है; वे साधु साधुनायक द्वारा "पाठक" संज्ञासे उद्घोषित होते हैं। ऐसे साधु "पाठक साधु" कहलाते हैं। जिनका अपर-नाम "उपाध्याय" है। उपाध्याय परमेष्ठी साधुवोंकी भांति आत्मार्थी होते हैं और उनकी अहोरात्र चर्या भी साधुवोंकी भांति होती है। केवल यह विशेषता है कि उपाध्याय परमेष्ठी किसी योग्यवेलामें साधुवोंको पढ़ाते हैं, शिक्षा देते हैं।

देवके शरीरमें रुका रहे।

नामकर्म उसे कहते हैं–जिसके उदयसे नाना प्रकारके शरीर व शारीरिक भावोंकी रचना हों। नामकर्मके ९३ भेद हैं--गति ४, जाति ५, शरीर ५, आङ्गोपांग ३, निर्माण १, बंधन ५, संघात ५ संस्थान ६, संहनन ६, स्पर्श ८, रस ५, गंध २ वर्ण ५, आनुपूर्व्य ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति २, प्रत्येकशरीर, त्रस, वादर, पर्याप्ति, शुभ, सुभग, सुस्वर, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति, साधारण शरीर, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अस्थिर, अनादेय, अयशः कीर्ति, तीर्थंकरप्रकृति।

गति (४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नारक तिर्यंच मनुष्य देवके आकार शरीर हो व इन गतिके योग्य भाव हो।

जाति (५ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) नामकर्म उसे कहते हैं--जिसके उदयसे गतियोंमें एकेन्द्रिय आदि सादृश्य धर्म सहित उत्पन्न हों।

शरीर (५—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण) नामकर्म उसे कहते हैं–जिसके उदयसे उस उस शरीरकी रचना हो। १–औदारिक शरीर—मनुष्य तिर्यंचोंके शरीरको कहते हैं-जिसके उदयसे औदारिक शरीरकी रचना हो, उसे औदारिक शरीरनामकर्म कहते हैं। २–वैक्रियक शरीर—देव नारकियोंके शरीरको (जो छोटा बड़ा, अनेक प्रकार किया जा सके। वैक्रियक शरीर कहते हैं, जिसके उदयसे वैक्रियक शरीरकी रचना हो, उसे वैक्रियक शरीर नामकर्म कहते हैं। ३–आहारक शरीर-आहारक ऋद्धिधारी प्रमत्त विरत मुनिके जब कोई शंका उत्पन्न हो या वंदनाका भाव हो तब उन मुनिके मस्तकसे एक हाथका, श्वेत, शुभ व्याघातरहित पुतला निकलता है और वह केवली, तीर्थंकर आदिके दर्शन कर वापिस आकर मस्तकमें समा जाता है; उस समय मुनिके शंका दूर हो जाती है उस शरीरको आहारकशरीर कहते हैं और जिसके उदयमें आहारकशरीरकी रचना हो, उसे आहारकशरीर नामकर्म कहते हैं। ४–तैजसशरीर–जो तेज (कांति) का कारण हो वह तैजस शरीर है, जिसके उदयसे तैजस शरीरकी रचना हो, उसे तैजसशरीर नामकर्म कहते हैं। ५–कार्माणशरीर—कर्मोंके समूह या कार्यको कार्माणशरीर कहते है— जिसके उदयसे कार्माणशरीरकी रचना हो, उसे कार्माणशरीर नामकर्म कहते हैं।

अङ्गोपाङ्ग--(३ औदारिक, वैक्रियक आहारक अङ्गोपाङ्ग) नामकर्म उसे कहते हैं–जिसके उदयसे २ हाथ, २ पैर, नितम्ब, पीठ, हृदय, मस्तक इन आठों अंगोंकी व आँख, नाक, अंगुलि आदि उपाङ्गोंकी रचना हो।

निर्माण नामकर्म उसे कहते हैं–जिसके उदयसे ठीक ठीक स्थान पर ठीक ठीक प्रमाणसे अङ्ग उपाङ्गोंकी रचना हो।

ज्ञान, दर्शन व शक्तिके निरोधके निमित्तभूत ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन शेष
घातियाकर्मोंका भी क्षय हो जाता है और उसी समय केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व), केवलदर्शन
(सर्वदर्शित्व) तथा अनन्तवीर्य प्रकट हो जाते हैं, तब यही आत्मा परमात्मा हो जाते हैं।
इनके जब तक शरीर रहता है तब तक ये सकलपरमात्मा कहलाते हैं। सकलपरमात्मा,
सगुणब्रह्म जिन, अरहंत, जिनेन्द्र आदि नाम एकार्थवाचक हैं। ये सकलपरमात्मा अरहंत
परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। इसका कारण शरीरकी परम स्व-
च्छताका होना है। जहाँ ये होते हैं उसके चारों ओर चारसौ चारसौ कोश तक सुभिक्ष
रहता है अर्थात् रोग, मरी, अकाल आदि नहीं होते। इनका विहार पृथ्वीसे ऊपर आकाश
में होता है। भगवान्के चारों तरफ वैठने आनेवालोंको भगवान्का मुख दीखता है, इसका
कारण भी शरीरकी स्वच्छता एवं परमातिशय है। भगवान्पर कोई किसी प्रकारका उपसर्ग
नहीं कर सकता। ये परमेष्ठी भोजन नहीं करते, क्योंकि इनके ऐसा ही अनन्तवल प्रकट हुआ
है कि भोजनकी आवश्यकता नहीं है और मोह, इच्छाका अत्यन्त अभाव है। इसलिये किसी
प्रकार भी ऐसी प्रवृत्ति संभव नहीं है। इनके शरीरके नख व केश नहीं बढ़ते। यदि वृद्ध
मुनि भी अरहन्त हो जावें तो उनका शरीर भी सब प्रकारसे बलिष्ठ, पुष्ट एवं मनोरम हो
जाता है। भगवान्के नेत्रोंकी पलक नहीं झपकती, क्योंकि उनमें कोई अशक्ति नहीं होती।
इत्यादि अन्य भी अनेक अतिशय होते हैं। देवेन्द्र, देव, नरेन्द्र, नरवृन्द, गजेन्द्र, पशु, पक्षी
आदि सभी प्रधान प्राणी भगवान्के चरणोंमें नमस्कार, विनय, पूजा करते हैं।

अरहंत परमेष्ठीके जब आयु तो थोड़ी रह जाती है और शेष कर्म अर्थात् वेदनीय,
नाम व गोत्र कर्मकी स्थिति ज्यादह रहती है तब स्वयं ही समुद्घात होता है; इसे केवलिसमु-
द्घात कहते हैं। शरीरको न छोड़कर शरीरसे बाहर आत्माके प्रदेशोंके फैलनेको समुद्घात
कहते हैं। केवलिसमुद्घातमें पहिले समय तो डण्डाके आकार ऊपर नीचे प्रदेश फैल जाते हैं
जहाँ तक लोक है वहाँ तक, केवल वातवलयमें अभी नहीं फैल पाते। दूसरे समयमें अगल-
बगलमें प्रदेश वातवलयको छोड़कर जहाँ तक लोक हैं वहाँ तक फैल जाते हैं, तीसरे समयमें
आगे व पीछे जहाँ तक लोक हैं वहाँ तक फैल जाते हैं। दोष उसके सिर्फ वातवलयमें नहीं
फैल पाते। इस तरह चारों ओरके वातवलयको छोड़कर सर्वत्र लोकमें उनके आत्मप्रदेश
फैल गये। फिर चौथे समयमें जो वातवलय शेष था उसमें भी पूरेमें आत्मप्रदेश फैल जाते
हैं। इस समयमें लोकके एक एक प्रदेशपर आत्माके एक एक प्रदेश रहते हैं। पाँचवें समयमें
सकुड़कर तीसरे समयके बराबर आत्मप्रदेश हो जाते हैं। छठे समयमें दूसरे समयके बराबर
आत्मप्रदेश हो जाते हैं। सातवें समयमें पहिले समयके समान दंडाकार रह जाते हैं। आठवें
समयमें शरीरप्रमाण हो जाते हैं। इतनी क्रियामें जैसे फैली हुई चादर जल्दी सूख जाती है

शरीरमें प्रतिनियत वर्ण (रूप) हो।

आनुपूर्व्य–(४ नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगत्यानुपूर्व्य) नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे विग्रहगतिमें आत्माके प्रदेश पूर्व शरीरके आकारको धारण करें।

६५—अगुरुलघु नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे न तो लोहेके गोलेके समान भारी शरीर हो और न आकके तूलके समान हल्का शरीर हो। ६६–उपघात नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे अपने ही घात करने वाले अंग उपांग या वातपित्तादि हों। ६७–परघात नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे दूसरोंके घात करने वाले अंग उपांग हों। ६८–आतपनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे आतप रूप शरीर हो। ६९–उद्योत-मकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर हो। ७०–उच्छ्वासनामकर्म–उसे हते हैं जिसके उदयसे श्वासउच्छ्वास की क्रिया हो।

७१ -७२–विहायोगति प्रशस्त, अप्रशस्त) नामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे मन हो।

७३–प्रत्येकशरीर नामकर्म — उसे कहते हैं जिसके उदयसे एक शरीरका स्वामी एक व हो। ७४–त्रसनामकर्म — उसे कहते हैं जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो। ५–सुभगनामकर्म — उसे कहते हैं जिसके उदयसे विरूप आकार होकर भी दूसरोंको प्रीति त्पन्न हो। ७६–सुस्वरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे अच्छा स्वर हो। ७७–शुभ-मकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे सुन्दर अवयव हो। ७८–वादरनामकर्म—उसे कहते जिसके उदयसे दूसरोंको वाधाका कारणभूत स्थूल शरीर हो। ७९—पर्याप्तिनामकर्म—से कहते हैं जिसके उदयसे अपने अपने योग्य यथासंभव (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासो-च्छ्वास, भाषा और मन) पर्याप्तियोंको पूर्ण करे। ८०–स्थिरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके दयसे शरीरके रसादिक धातु और वातादि उपधातु अपने अपने ठिकाने (स्थिर) रहें। १–आदेयनामकर्म—उसे कहते हैं जिनके उदयसे कान्तिसहित शरीर हो।

८२–यशःकीर्तिनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे यश और कीर्ति हो।

८३–साधारणशरीरनामं—उसे कहते हैं जिसके उदयसे अनेक आत्माओंके उपभोग ा कारणभूत एक शरीर हो। ८४–स्थावरनामकर्म–उसे कहते हैं जिसके उदयसे पृथ्वी, जल, ग्नि, वायु, वनस्पतिमें जन्म हो। ८५–दुर्भगनामकर्म--उसे कहते हैं जिसके उदयसे रूपादिक ण सहित होनेपर भी दूसरोंको अच्छा न लगे। ८६--दुःस्वरनामकर्म--उसे कहते हैं जिसके दयसे स्वर अच्छा न हो। ८७--अशुभनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे शरीरके वयव सुन्दर न हों। ८८–सूक्ष्मनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर

ढाई द्वीपोंमें से ऐसे धर्मक्षेत्र केवल आजकल इस जम्बू द्वीपके भरतक्षेत्रमें स्थित आर्यखण्डके
मध्य बसे हुए इस भारतवर्षमें ही विदित हो रहे हैं। हैं तो ऐसे धर्मक्षेत्र ढाई द्वीपोंमें सर्वत्र,
परन्तु आजकलकी धारणाकी सीमाके अनुसार यहांके ही कुछ धर्मक्षेत्र विदित हैं।
(१) श्री सम्मेदशिखर जी (विहार प्रान्त)- इस भूमिपर अनन्त तीर्थङ्करोंने एवं
अनन्त मुनिराजोंने आत्मसाधना की एवं निर्वाण प्राप्त किया। इस वर्तमानके वीते हुए
चतुर्थकालमें वीस तीर्थङ्करोंने यहांसे निर्वाण प्राप्त किया एवं अनेक करड़ मुनिराजोंने
निर्वाण प्राप्त किया। (२) पावापुर (विहार प्रान्त)—इस स्थानसे वर्तमानके अन्तिम
तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामीने निर्वाण प्राप्त किया एवं अनेक मुनिराजोंने निर्वाण प्राप्त
किया। (३) मंदारगिरि—यहां वाहरवें तीर्थङ्कर वासूपूज्य भगवान्ने तथा अनेक ऋषियोंने
निर्वाण प्राप्त किया। (४) गिरनार—यहांसे वाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी (श्रीकृष्ण
नारायणके चचेरे भाई) शंवुकुमार, प्रद्युम्नकुमार आदि अनेक ऋषियोंने निर्वाण प्राप्त
किया। (५) कैलाश—यहांसे आदि तीर्थङ्कर भगवान् श्री ऋषभदेवने तथा अनेकानेक
ऋषियोंने निर्वाण प्राप्त किया। (६) मथुराजी यहांसे निबद्धकेवलियोंमें से अन्तिम केवली
श्री जम्बूस्वामी जी ने निर्वाण प्राप्त किया तथा अनेक ऋषियोंने भी निर्वाण प्राप्त किया।
(७) तारंगा जी—यहांसे वरदत्त सागरदत्त आदि अनेक ऋषि निर्वाणको प्राप्त हुए।
(८) शत्रुञ्जय—यहांसे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन—ये तीन पाण्डव तथा और ८ करोड़ ऋषि
मोक्ष गये हैं (निर्वाणको प्राप्त हुए हैं)। (९) पावागढ़—यहांसे भगवान् श्री रामचन्द्रजीके
पुत्र श्री लव व अंकुश तथा और भी साड़े ५ करोड़ ऋषि निर्वाणको प्राप्त हुए हैं।
(१०) मुक्तागिरि—यहांसे साड़े तीन करोड़ ऋषिराज निर्वाणको प्राप्त हुए हैं। (११) कुण्ड-
लगिरि (म० प्र०)—यहांसे अन्तिम केवली श्रीधर महाराज निर्वाणको प्राप्त हुए हैं।
(१२) नैनागिरि (म० प्र०) यहांसे वरदत्तादि ५ ऋषिराजोंने निर्वाण प्राप्त किया।
(१३) द्रोणगिरि (म० प्र०)—यहांसे गुरुदत्तादि अनेक ऋषिराजोंने निर्वाणको प्राप्त किया।
(१४) सोनागिरि जी— यहांसे अनंगकुमार आदि साड़े पांच करोड़ ऋषिराज निर्वाणको
प्राप्त हुए हैं। (१५) गुणावा (बिहार प्रान्त)—यहांसे भगवान् गौतम गणेश निर्वाण प्राप्त
हुए। (१६) खंडागिरि उदयगिरि—यहांसे पांच सौ मुनि मोक्ष गये हैं। यह कलिंग देशका
प्रधान धार्मिक स्थान है। [१७] जैन वद्री श्रवणवेलगोल—यहांसे श्री बाहुबलि भगवान
एक वर्ष तक अनशन तप व एक खड्गासनसे ध्यान करके निर्वाणको प्राप्त हुए हैं
[१८] कुंथलगिरि—यहांसे देशभूषण कुलभूषण मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए। [१९
गजपंथा—यहांसे बलभद्र आदि ८ करोड़ ऋषिराजोंने निर्वाण प्राप्त किया। [२०] मांगी
तुंगी—यहांसे भगवान् श्री रामचन्द्रजी, हनुमानजी, सुग्रीव जी, नीलजी, महानीलजी आ

ही परिणाम दुर्गतिसे बचानेवाले हैं अर्थात् पापयोनियोंमें पुनर्जन्म न हो सके, ऐसी रक्षा करनेवाले हैं।

काल रचना

काल (समय) क्या किसीके द्वारा रचा गया है ? ऐसी कल्पना भी किसी किसीके आज तक नहीं हुई। जो भाई ऐसा आशय रखते हैं कि जीव और भौतिक पदार्थ किसी एक समर्थ चेतन (ईश्वर) द्वारा रचे गये हैं, उनका भी समय रचे जानेके बावत अभिप्राय नहीं हो सकता। समय क्या है ? यह बात सभी मनुष्योंके चित्तमें स्पष्ट समझमें आ रही है और वह इस रूपसे समझमें आ रही है कि सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि समय ही तो हैं।

इस सम्बन्धमें नैयायिक, वैशेषिक आदि अनेक बन्धुओंने काल नामक पदार्थ माना है और जैनदर्शनमें कालनामक द्रव्य असंख्यात माने हैं जो कि लोकके एक एक प्रदेशपर एक एक हैं। उनका एक एक समय (क्षण) के रूपमें होता है। उन परिणमनों (समयों) के यथायोग्य समुदायको सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि कहते हैं। यह काल कबसे चला आ रहा है ? इसपर विचार करें तो ऐसा कहीं टिकाव ही नहीं हो सकता कि लो अमुक दिन पहिले तो काल (समय) था ही नहीं। कालकी कोई आदि ही नहीं। काल अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसका कभी अन्त ही नहीं होगा।

वस्तुतः काल सर्वदा एक समान ही है, परन्तु जिस जिस कालमें जीवोंका व भौतिक पदार्थोंका परिणमन विभिन्न विभिन्न देखा जाता है उस उस कालको नाना संज्ञाओंसे संज्ञित करके कहा जाता है। आज जो समय व्यतीत हो रहा है वह जीवोंके बल, बुद्धि, शरीर, पुण्य, आदिकी उत्तरोत्तर हीनतामें बीत रहा है। यह हीनता कुछ काल तक और चलती रहेगी। अति चिरकाल तक हीनता चलती रहे, यह नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेसे तो सर्व अणुमात्र रह जायगा और फिर उसका भी लोप हो जायगा। इससे यह क्षीणता कुछ समय तक और चलेगी। परिणाम यह निकला कि उसके बाद फिर जीवोंके देह, बुद्धि, बल पुण्यमें वृद्धि होती चलेगी। इसी प्रकार यह क्षीणता कुछ पहिलेसे चली आ रही है। यह क्षीणता प्रारम्भसे चली आ रही है यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे सर्व महत्ता, अनवकाश, स्वरूपाभाव आदि अनेक दोष आते हैं। परिणाम यह निकाला कि यह हानिप्रवाह कुछ पहिलेसे चल रहा है। इससे पहिले वृद्धिप्रवाह था। इस तरह कालचक्र दो भागोंमें बंट जाता है— (१) वृद्धिकाल, (२) हानिकाल। जैनदर्शनमें वृद्धिकालका नाम उत्सर्पिणीकाल कहा है और हानिकालका नाम अवसर्पिणीकाल कहा है तथा एक वृद्धिकाल

मात्र विशुद्धिके नाते से अपने आपके स्वरूपकी रुचि उत्पन्न होती है तथा कुछ संतजन ऐसे
होते हैं कि होती तो उनके हैं अपने आपकी स्वरूपकी रुचि, परन्तु पूर्वोपदेशधारणावश या
अन्य कारणोंवश जो भी अपने आपका स्वरूप समझा उसकी प्रीति, रुचि होती है। यह
सब जान बूझकर उत्पथकी ओर नहीं है, अतः आशयमें बेईमानी न होनेके कारण वे भी
संतजन हैं।

संतपन किसी जाति, कुल आदिकी अपेक्षा नहीं करता, फिर भी प्रकृत्या प्रायः ऐसा
होता है कि निर्दोष जाति कुलसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंमें संतपन उत्कृष्टतासे होता है।
इनका जहाँ निवास होता है वहां शान्तिका वातावरण व न्यायका वातावरण फैल जाता
है। ऐसा होनेका मुख्य कारण यह है कि सभी जीवोंमें संतपन है, किन्तु सङ्ग, उपाधि आदि
कारणोंसे संतपन समुचित व्यक्त नहीं हो पाता। संतजनोंके निवासक्षेत्रमें शान्तिमुद्राके दर्शन,
दर्शकोंका अकोलाहल व्यवहार आदि निमित्तोंसे जीवोंका सत्यकी ओर झुकाव होता है। इस
निजगुणकी वृद्धिके कारण जीव स्वयं अशान्ति व अन्यायका परित्याग करके शान्त एवं
न्यायशील हो जाते हैं। वर्तमान संतपनका पूर्वभवके जप तप अनुष्ठानोंका भी विशेष सम्बन्ध
है। मनुष्य मनुष्य समान होकर भी किसी मनुष्यमें विरक्ति व ज्ञानोन्मुखता इतनी विशाल
देखी जाती है कि विषयादिक प्रतिकूल अनेक साधन सामग्री समक्ष होनेपर भी ज्ञातृत्वशीलता
से नहीं चिगते।

स्वात्मोपलब्धि

सहजस्वरूपमें निजतत्त्वके परिचय होनेको स्वात्मोपलब्धि कहते हैं। यह आत्मा
सनातन है, शुद्धसत्ताक है। इसमें न रूप है, न रस है, न गन्ध है, वर्ण है। इसके सहजस्व-
रूपमें मात्र चैतन्य है। इसमें न राग है, न द्वेष है, न विचारतरङ्ग है, न विकल्पतरंग है।
केवल संचेतनमात्र अनुभवसे यह उपलब्धव्य है। इसकी प्राप्तिका मात्र प्रज्ञा है। इसकी
निर्मलताका उपायमात्र प्रज्ञा है। मिले हुए जीव अजीवमें अन्तर जाननेका उपाय भी मात्र
प्रज्ञा है।

आत्माका स्वरूप वही है जो स्वतः अपने आप अकेलेमें सनातन स्थित हो। वह है
चैतन्य। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। द्रव्यका स्वभाव द्रव्यसे भिन्न नहीं है, सो आत्मद्रव्य
का स्वभावभूत चैतन्य भी परिणमनशील है। परिणमन दो पद्धतिसे है—(१) सामान्य,
(२) विशेष। सामान्य परिणमनको दर्शन कहते हैं। विशेष परिणमनको ज्ञान कहते हैं। मैं
परिणमता हूं अर्थात् देखता हूं, जानता हूँ यहाँ देखनेका अर्थ सामान्य प्रतिभास होना है, (आँख
से देखना नहीं) मैं देखता हूं, अपनेको देखता हूं, अपने द्वारा देखता हूं, अपने लिये

महाबल, अतिबल, अमृत, सुभद्र, सागर भद्र, रवि, प्रभूततेज, तपबल, अतिवीर्य, सोमयश सौम्य, महाबल, सुबलि, बलि, शिशिर, रत्नमाली, रत्नरथ, रत्नचित्र, चन्द्ररथ, वज्रसंघ, विद्युद्दंष्ट्र, वज्रबाहु, वज्रसुन्दर, विद्युद्दंष्ट्र, विद्युद्वेग, अश्वायुध, पद्मनाभि, पद्मरथ, सिंहयान, सिंहप्रभ, शशांक, चन्द्रांक, चन्द्रशेखर, इन्द्ररथ, चक्रधर्म, चक्रायुध, चक्रध्वज, मणिरथ, पूर्णचन्द्र, वहिरूढी, धरणीधर त्रिदशंजय, जितशत्रु, अजितनाथ, सागरचक्री, भीमरथ, भगीरथ, सुलोचन, सहस्रनयन, पूर्णमेघ, मेघवाहन, उदधिरक्ष, भानुरक्ष, महारक्ष, राक्षस, आदित्य गति, सुग्रीव, हरिग्रीव, भानुगति इन्द्र, इन्द्रप्रभ, पवि, इन्द्रजीत, भानु, मुरारी, भीम, मोहन सिंहविक्रम, चामुंड मारण, अग्निदमन, निर्वाणभक्ति, अर्हद्भक्त, अनुत्तर, लंक, चंद्र, बृहद्गति, चन्द्रावर्त, महारव, मेघध्वनि, ग्रहप्रभ, श्रीनिषचन्द्र, विद्युत्केश, सुकेश, माली, सुमाली, रत्नश्रवा, रावण, विभीषण, मेघवाहन, इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, सहस्रार, इन्द्र, अतीन्द्र, श्रीकण्ठ अमरप्रभ, महोदधि, प्रतिचन्द्र, किहकंध, सूर्यरज, बाली, सुग्रीव, नल, नील, प्रह्लाद, वायुकुमार, हनुमान वज्राङ्कुश, मघवा चक्री, सनत्कुमार, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, मुनिसुव्रतनाथ, जयसेन, नमिनाथ, ब्रह्मदत्त, त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण, कृष्ण ये ९ नारायण, अचल, विजय, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिमित्र, नंदिषेण, रामचन्द्र, बलदेव ये ९ बलभद्र, सुव्रत, दक्ष, एलावर्द्धन, श्रीवर्द्धन, श्रीवृक्ष, संजयंत, कुणिम, महारथ, पुलोम, वासवकेतु, जनक, भामंडल, सीता, वसुदेव, समुद्रविजय, नेमिनाथ, बलदेव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, शंबु, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव, दुर्योधनादि, विजय, सुरेन्द्रमन्यु वज्रबाहु, पुरंदर, कीर्तिधर, सुकौशल, सौदास, ब्रह्मरथ, सत्यरथ, पृथुरथ, पयोरथ, दृढ़रथ, सूर्यरथ, रविमन्यु, शतरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरण्यकश्यप, पुञ्जस्थल, ककुत्स्थल, रघु, अनरण्य, दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, अनङ्गलवण, मदनाङ्कुश, पार्श्वनाथ, महावीर, गौतम, सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, धरसेनाचार्य गुणधराचार्य, पुष्पदंत, भूतबलि आर्यमंक्षु, नागहस्ती, यतिवृषभाचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, समंतभद्र, कार्तिकेय, सिद्धसेन, अकलङ्कदेव, पात्रकेशरी, विद्यानंदी, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, जरथुस्त, कनफ्यूशस, लाओत्जे, पाइथागोरस, रोमलुस, सुलेमान, डायो, विल्जे, अरस्तू, सुकरात, सिकन्दर, सैल्यूकस, चन्द्रगुप्त, चाणक्य विक्रमादित्य शाहंशाह, बिन्दुसार, अशोक, शहाबुद्दीन, सिकंदर, कुतुबउद्दीन, चंगेजखाँ, तैमूर, विलियम, बाबर, अकबर, जहांगीर, औरंगजेब, पृथ्वीराज, नानक, शिवाजी, प्रताप, भामाशाह आदि अनेक राजा महाराजा, विद्वान् व योगी हुए।

कालवश सभीको शरीर छोड़ना पड़ा। कोई तो शरीर छोड़कर मुक्त हुए, कोई

को करता है, न कि कुगादि कुगुरुओं। सम्यग्दृष्टि जैसा बनाना चाहता है वह तो है देव व देव बननेका जो उपाय करते हैं वे हैं गुरु व देव बननेका जिसमें उपाय लिखा है वह है शास्त्र। सम्यग्दृष्टिने अपने आपके निरपेक्ष, सहज एवं सत्यस्वरूपका अनुभव किया है। सहज ज्ञान व आनन्दमें परिपूर्ण है। स्वरूपानुभवमें जो आनन्द सम्यग्दृष्टिने पाया उससे रहे वह पूर्ण विकसित हो गया है कि जिसके निर्मल अनन्त आनंद जिसके अनवरत प्रकट रहता है वही उत्कृष्ट है, आराध्य है, देव है। इसी स्वरूपाधिके सम्बन्धमें "सकलपरमात्मा व निकलपरमात्मा" नामके अधिकारोंमें विशेषतया वर्णन किया गया है। सम्यग्दृष्टिके सच्चे देवकी प्रतीति अटल होती है। देव बननेका उपाय अर्थात् वीतराग व सर्वज्ञ बननेका उपाय जिसमें वर्णित हो वह शास्त्र है। वीतराग बननेका उपाय विषय कषायोंसे वैराग्य पाना है और यह वैराग्य तथा सहज आत्मस्वरूपके उपयोगमें संयत रहना सर्वज्ञ होने का उपाय है। अतः वैराग्य व सत्यस्वरूपके निर्देशक शास्त्रोंकी उपासनामें, स्वाध्यायमें सम्यग्दृष्टिका उपयोग होता है। सम्यग्दृष्टि सच्चे शास्त्रकी ही उपासना करता है। देव होनेमें जो प्रयत्नशील है उन्हें गुरु कहते हैं। देव अनन्त ज्ञान व अनन्त आनन्द आदि गुणोंके पूर्ण विकासरूप है। ऐसी स्थिति मात्र ज्ञानकी निश्चलता द्वारा साध्य है। अतः गुरु अन्य सर्वपदार्थोंसे परम निरपेक्ष होते हैं तथा आत्मानुभवके लिये सदा तत्पर रहते हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ, निरारम्भ गुरुओंकी उपासना सम्यग्दृष्टिके होती है। सम्यग्दृष्टिके सच्चे गुरुकी प्रतीति अटल होती है। इस प्रकार व्यवहारमें देवशास्त्रगुरुका श्रद्धान व जीवादिक सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और निश्चयमें समस्त परद्रव्यों, परभावोंसे विविक्त, चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपका दर्शन सम्यग्दर्शन है।

यथार्थस्वरूप सहित वस्तुके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानमें आत्माके स्वरूपका निर्णय एवं अनुभव अवश्य होता है तथा अन्य सभी पदार्थोंका सामान्यतया स्वरूपका निर्णय भी सम्यग्ज्ञानमें होता है। यथार्थताका जिसमें वर्णन है, उन शास्त्रोंका अभ्यास व उसके अनुसार जानकारी होना व्यवहारसे सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनसे जैसा अपने आपका स्वरूप प्रतीत किया व सम्यग्ज्ञानके द्वारा जैसा आत्मस्वरूप जाना उस ही में लीन होना सो सम्यक्चारित्र है। व्यवहारमें व्रत, समिति, गुप्ति, आराधना आदि सम्यक्चारित्र कहलाता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके लाभको बोधिलाभ कहते हैं। शान्तिका अमोघ उपाय बोधिलाभ है। बोधिलाभके अभिलाषी भव्य जीवोंको गृहीत मिथ्यात्व, अन्याय व अभक्ष्यका त्याग करना चाहिये और यथाशक्ति ज्ञानोपार्जन, शुद्ध भोजन व ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इस त्रिपुटीकी चर्यामें रहते हुए जो आत्मज्योति जागृत होगी, उससे

लाख हस्तप्रहेलितका--१ अचलप्र। संख्यात अचलप्रोंका १ उत्कृष्ट संख्यात।

उत्कृष्ट संख्यातके ऊपर असंख्यात व असंख्यातोंके ऊपर अनन्त आते हैं। जिनका क्रम इस प्रकार है— जघन्यपरीतासंख्यात, मध्यपरीतासंख्यात। उत्कृष्ट परीतासंख्यात। जघन्ययुक्तासंख्यात, मध्यमयुक्तासंख्यात, उत्कृष्टयुक्तासंख्यात। जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात, जघन्य परीतानन्त, मध्यम परीतानन्त, उत्कृष्ट परीतानन्त। जघन्य युक्तानन्त, मध्यम युक्तानन्त, उत्कृष्ट युक्तानन्त। जघन्य अनन्तानन्त, मध्यम अनंतानंत उत्कृष्ट अनन्तानन्त। भगवानका ज्ञान (केवलज्ञान) उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण है अर्थात् केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त हैं। जिसका विवरण यह है कि जघन्य अनन्तानन्तको ३ वार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध जीव, निगोदराशि, प्रत्येकवनस्पति, पुद्गलराशि, कालके समय, अलोकाकाशके प्रदेश—ये ६ राशियां मिलाकर उत्पन्न हुई। राशिको फिर ३ वार वर्गित संवर्गित करके उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य-सम्बन्धी अगुरलघुगुणके अविभागप्रतिच्छेद मिलाकर जो लब्ध हो उस महाराशिको ३ वार वर्गित संवर्गित करे जो लब्ध हो उसे केवलज्ञानमें अविभागप्रतिच्छेदोंमें से घटावे, जो शेष हो उसे केवलज्ञानमें मिला देवे, इस प्रकार जो राशि हो वह उत्कृष्ट अनन्तानन्त है।

— ——

लोकरचना

अनेक प्राचीन आर्षग्रन्थोंमें भरतक्षेत्र, जम्बूद्वीप, सुमेरुपर्वत, आर्यखण्डकी चर्चा आई है, किन्तु आजकी इन्द्रियसाध्य प्रणालीमें १०--१२ हजार गज मीलमें विस्तार वाली दुनिया मानी जा रही। मानें, परन्तु ये अन्वेषक भी मानी हुई दुनियासे अधिक अधिक स्थल पाये जानेपर और और मानते चले आये हैं। इससे यह नहीं माना जा सकता है कि जहाँ तक परिचित हम लोग आ जा सके हैं, उतनी ही दुनिया है। लोकका सारा कितना विस्तार है? इसको जाननेके यत्नमें हमें आर्षग्रन्थोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

लोकरचना जाननेके लिये अब हम आर्षग्रन्थोंके निकट आवें। जैनसिद्धान्तमें समस्त लोक एक पुरुषाकार है, जिसमें आकार ऐसा है कि कोई पुरुष पैर पसारे कमर पर हाथ रखे हुए खड़ा है। उसके पीछे सर्वत्र ७ राजू विस्तार है। सामने पैरोंपर ७ राजू, फिर ऊपर चलकर घटकर कमरके पास एक राजू, फिर बढ़कर करीब छातीके पास ५ राजू, फिर घटकर ग्रीवाके पास एक राजू है। इस लोकके ठीक बीचमें ऊपर नीचे १४ राजू लम्बी त्रस-नाली है, इसके ठीक बीचमें मध्यलोक है, उसके नीचे सात राजूने नीचे नीचे सात्तर ७ नर्क हैं। मध्यलोकसे ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जिसमें ऊपर ऊपर ८ युगलोह, १६ स्वर्ग, फिर ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर विमान हैं। इससे ऊपर सिद्धशिला है, इससे ऊपर अन्तमें

सम्यक्त्वके गुणोंसे वार-वार परिणत होना अथवा सम्यक्त्वके गुणोंकी वृद्धि होना सो दर्श-
नोद्यापन है। निःशङ्कता, निःकांक्षता, निर्जुगुप्ता, अमूढ़ता, उपगूहन, धर्मवात्सल्य, स्थिति-
करण, धर्मप्रभावना आदि गुण सम्यक्त्वके हैं, इनकी वृद्धि होना सो दर्शनोद्यापन है। (३)
दर्शननिर्वहण—सम्यक्त्व परिणामको निराकुलतासे धारण करना, उपसर्ग व उपद्रव आने
पर भी सम्यक्त्वसे च्युत नहीं होना सो दर्शननिर्वहण है। (४) दर्शनसाधन--वार वार
ज्ञानोपयोगके द्वारा सम्यक्त्वभावकी साधना आजीवन बनाये रहना सो दर्शनसाधन है। (५)
दर्शननिस्तरण--सम्यक्त्वकी निर्दोष ऐसी साधना होना कि अन्य भवमें भी सम्यक्त्व साथ
रहे, उसे दर्शननिस्तरण कहते हैं।

(६) ज्ञानोद्योतन--संशय विपर्यय, अनध्यवसाय, ज्ञानके आठ अंगोंका न पालना आदि
ज्ञानमलोंको दूर करना सो ज्ञानोद्योतन है। (७ ज्ञानोद्यापन—ज्ञानकी उत्कर्षता प्रकट
करना अथवा ज्ञानगुणकी वृद्धि करना सो ज्ञानोद्यापन है। (८) ज्ञाननिर्वहण—ज्ञानगुणको
निराकुलतासे धारण करना; उपसर्ग, उपद्रव आनेपर भी सम्यग्ज्ञानसे च्युत नहीं होना, सो
ज्ञाननिर्वहण है। (९) ज्ञानसाधन—वार वार ज्ञानभावनासे सम्यग्ज्ञानकी साधना आजीवन
बनाये रहना सो ज्ञानसाधन है। (१०) ज्ञाननिस्तरण--ज्ञानकी ऐसी निर्दोष साधना होना
कि आगामी भवमें भी सम्यग्ज्ञान साथ रहे, इस आराधनाको ज्ञाननिस्तरण कहते हैं।

(११) चारित्रोद्योतन--चारित्रकी भावनामें तत्पर होकर चारित्रके मल शिथिल
परिणाम) को दूर करना सो चारित्रोद्योतन है। (१२) चारित्रोद्यापन--चारित्र गुणकी वृद्धि
करना सो चारित्रोद्यापन है। (१३) चारित्रनिर्वहण--चारित्रभावको निराकुलतासे धारण
करना, उपसर्ग उपद्रव आदि बाधावोंके आनेपर भी चारित्रसे च्युत नहीं होना सो चारित्र-
निर्वहण है। (१४) चारित्रसाधन--निज स्वभावोपयोग द्वारा आजन्म चारित्रकी परिपूर्ण
दृढ़ साधना करना चारित्रसाधन है। (१५) चारित्रनिस्तरण--चारित्रकी दृढ़ साधनाके बल
से चारित्रके संस्कारको अन्य भवमें भी पहुंचाना सो चारित्रनिस्तरण है।

(१६ तप उद्योतन--असंयमादि तपोमलको दूर करना सो तप उद्योतन है। (१७)
तप-उद्यापन--तपश्चरणमें उत्साह रखकर उसकी वृद्धि करना सो तप-उद्यापन है। (१८)
तपोनिर्वहण—तपश्चरणका निराकुलतासे धारण करना, उपसर्ग उपद्रव आने पर भी तप-
श्चरणसे च्युत नहीं होना सो तपोनिर्वहण है। (१९) तपःसाधन--आजन्म तपकी निर्दोष
साधना करनेको तपःसाधन कहते हैं। (२०) तपोनिस्तरण—तपश्चरणकी निर्दोष, परिपूर्ण
साधनाके बलसे तपश्चरणके पवित्र भावोंके संस्कारको अन्य भवमें भी पहुँचा देना सो तपो-
निस्तरण है।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तपकी आराधनायें होती हैं। इन चारोंका संक्षे

स्थान है। उसके १२ लाख योजन नीचे यक्ष, राक्षस व पिशाच रहते हैं। उनके १०० योजन नीचे मर्त्यलोक है, इत्यादि सब १४ लोक हैं। इनके नाम है---[१] पाताल, [२] रसातल, [३] महातल, [४] तलातल, [५] सुतल, [६] वितल, [७] अतल, [८] भूर्लोक, [९] भुवर्लोक, [१०] स्वर्लोक, [११] महर्लोक, [१२] जनलोक, [१३] तपलोक व [१४] सत्यलोक। सबसे नीचे पाताल है, सबसे ऊपर सत्यलोक है।

इत्यादि प्राचीन ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें भूमिका विस्तार आधुनिक खोजवाली दुनिया से कितना ही अधिक है। उन आर्षलोकरचनाओंमें कौन यथार्थ है, इसका परिचय उस उस दर्शनके अनेक सिद्धान्तोंमें अध्ययन करनेपर स्वतः व्यवस्थित हो जाता है।

क्षेत्रके सबसे छोटे (अविभागी) अंशको प्रदेश कहते हैं। एक परमाणु द्वारा रुद्ध क्षेत्र— १ प्रदेश, अनंतानंतपरमाणुसंघातरद्ध संक्षिप्त क्षेत्र-- १ अवसन्न (उत्संज्ञ), ८ अवसन्न (उत्संज्ञ) का— १ सन्नासन्न (संज्ञ), ८ सन्नासन्नका— १ त्रुटिरेणु, ८ त्रुटिरेणुका— १ त्रसरेणु, ८ त्रसरेणुका— १ रथरेणु, ८ रथरेणुका— उत्तमभोग-भूमिज नरके १ केशाग्रकी मोटाई, ८ उत्तमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—मध्यमभोग-भूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ मध्यमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका--जघन्यभोग-भूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ जघन्यभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—कर्मभूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई। ८ कर्मभूमिजनरकेशाग्रकोटीका— १ लिक्षा, ८ लिक्षा का— १ यूका, ८ यूकाका— १ यवमध्य, ८ यवमध्यका— १ उत्सेधांगुल, ६ उत्सेधांगुलका— १ पाद, २ पादका— १ वितस्ति (वैथा), २ वितस्तिका— १ हस्त (हाथ), २ हस्तका— १ किष्कु, २ किष्कुका १ दंड (धनुष), २ हजार दंड (धनुष) का— १ कोश (गव्यूत), ४ कोश (गव्यूत) का— १ योजन।

नोट:—[१] ५०० उत्सेधांगुलका १ प्रमाणांगुल होता है। उस प्रमाणांगुलसे बड़ा योजन होता है अर्थात् २००० कोशका १ महायोजन होता है। [२] आत्मांगुल—जिस समय मनुष्यके अंगुलका जो परिमाण होता है वह आत्मांगुल कहलाता है। आजकलके मनुष्योंका आत्मांगुल उत्सेधांगुलके बराबर है।

असंख्यात योजनका—१ राजू। ७ राजूका— १ श्रेणि। ७ राजूके वर्ग, (७ × ७) का— १ प्रतरलोक (४९ राजू), ७ राजूके घन (७ × ७ × ७)— १ सर्वलोक (३४३ राजू)

...०O०...

(८) यह साधक कभी अपनी परिणतिस्वभावकी ओर देख रहा है, कभी ज्ञानस्वरूपको देख रहा है, कभी ज्ञानसे गुणोंमें तन्मय हो रहा है, गुणसे पर्यायकी ओर आ रहा है, पुनः गुणकी ओर, द्रव्यकी ओर आकर अभेदस्वभावमें उपयोगी हो रहा है। इस प्रकार सह-जानन्दस्वरूपको पाकर परम आनन्दको पा रहा है।

(९) यह साधक अब ज्ञान द्वारा निजस्वरूपको जानकर ज्ञानानन्दका अनुभव कर रहा है, दर्शन द्वारा निजस्वरूपको देखकर दर्शनानन्दका अनुभव कर रहा है, निजस्वरूपमें परिणमकर चारित्रानन्दका अनुभव कर रहा है अथवा आप ही आपको वेदकर सहज आनन्दका अनुभव कर रहा है।

(१०) अब यह साधक अनुपम आनन्दोंसे युक्त होकर अभेद चिदानन्द चैतन्यस्वरूपमें लीन हो रहा है। अब कोई विकल्प व वितर्ककी तरङ्ग नहीं रही।

(११) यह साधक अब पूर्ण निर्विकल्प समाधिको प्राप्त हो गया और अब पूर्ण निर्विचार समाधिको प्राप्त हो गया। यहाँ अबुद्धिगत भी सूक्ष्म ज्ञेय परिवर्तन भी नहीं है। यह पूर्ण निर्विचार समाधि अब कैवल्य पद (सर्वज्ञता) प्रकट करके ही विलीन होवेगी।

(१२) इस प्रकार समाधिबलसे यह साधक अब साधु अवस्थासे परमात्म अवस्थामें आ गया। तीन लोक तीनकालके समस्त ज्ञेय सहज ही झलकने लगे। साथ ही इस सर्वज्ञान ने अनन्त सहज आनन्दका भी अनुभव किया।

दुःखका समूल उन्मूलन करनेवाली समाधि ही योगियोंको प्रिय है।

निर्विकल्प समाधि

मिथ्यादृष्टि नारकी, ६१- ब्रह्मस्वर्ग कल्पवासी मिथ्या० देव, ६२- तीसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव, ६३- सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पवासी मिथ्या० देव, ६४- दूसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव, ६५- सम्मूर्छिम मनुष्य, ६६- सौधर्मैशानकल्पवासी मिथ्यादृष्टि देव, ६७- प्रथमपृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकी, ६८- भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव, ६९- व्यन्तर मिथ्यादृष्टि देव, ७०- ज्योतिष्क मिथ्यादृष्टि देव, ७१- मिथ्यादृष्टि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त, ७२- पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च अपर्याप्त, ७३- चतुरिन्द्रिय जीव, ७४- त्रीन्द्रिय जीव, ७५- द्वीन्द्रिय जीव, ७६- सिद्ध भगवान्, ७७- बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ७८- बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ७९- सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ८०- सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त ।

उक्त सब जीवोंमें क्रम चार ऐसा लगाना कि पहिले नम्बर पर लिखे हुए जीवोंसे दूसरे नम्बरके लिखे हुए जीव अधिक हैं, उनसे तीसरे नंबरके अधिक हैं। इस तरह अस्सी तक लगाते जावें। अधिकके मतलब कहीं ज्यादह, कहीं संख्यातगुणे, कहीं असंख्यातगुणे, कहीं अनन्तगुणे लगाना है। इसके लिये आर्ष आगम देखना चाहिये।

कर्मसत्त्व

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर जो कर्म स्कन्ध जीवके साथ बंध जाते हैं वे अपनी अपनी स्थितिप्रमाण काल तक जीवके साथ बंधे हुए बने रहते हैं। इस स्थितिको सत्त्व कहते हैं। एक समयके जीवपरिणामको निमित्त पाकर जो कर्मस्कन्ध बंधते हैं वे एक नहीं, किन्तु अनन्त होते हैं। एक समयबद्ध उन अनन्त कर्मस्कन्धोंमें से कुछ कर्मस्कन्ध पहिले उदयमें आकर खिर जाते हैं, कुछ और देरमें, कुछ और देरमें। इस तरह असंख्यातों स्थान व स्थितियाँ हो जाती हैं; फिर भी एकसमयबद्ध उन कर्मस्कन्धोंमें जो सबके अन्तमें उदयमें आते हैं या आ सकते हैं, उनकी स्थितिके लक्ष्यसे ही सब कर्मोंकी स्थिति उतनी ही कह दी जाती है, क्योंकि वे सब कर्मस्कन्ध एकसमयबद्ध थे।

यद्यपि कर्मोंके सत्त्वमात्रसे जीवमें विभाव उत्पन्न नहीं होता तो भी यह तो हो ही जाता है कि अमुक प्रकारके कर्मोंके सत्त्वमें अमुक स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः कर्मका सत्त्व भी किसी प्रकार क्लेशका हेतु हो जाता है। जिस प्रकार बाला स्त्रीसे विवाह करने पर बाला स्त्री कुछ दिनों अनुपभोग्य रहती है पश्चात् उपभोग्य होती है; इसी प्रकार नवीन कर्मबन्ध होने पर वे कर्म कुछ समय तक अनुपभोग्य होते हैं पश्चात् उपभोग्य होते हैं। जब तक वे अनुपभोग्य रहते हैं तब तकके समयका नाम अबाधाकाल है अर्थात् इतने समय तक उन कर्मोंके कारण जीवके बाधा उत्पन्न नहीं होती। परन्तु उन कर्मोंका सत्त्व तो तभीसे हो गया जबसे कि वे बद्ध हुए हैं। तथा जैसे बाला स्त्री अनुपभोग्य है तो भी

परलोकका भी आनन्द हो जायगा।

नरक लोकमें नारकी अशुभ देह, अशुभ परिणाम, अशुभ कायचेष्टा व अशुभ वेदना
वाले होते हैं। वहां नारकी ही दूसरे नारकीको मारते हैं। ६ जीर्ण शीर्ण खण्ड खण्ड कर
डालते हैं। खण्ड खण्ड हो जानेपर भी नारकी की आयुका जब तक उदय चलता है मरता
नहीं है, पारेकी तरह उनका शरीर मिलकर फिर पूरा हो जाता है! नारकी जीव अपने
देहका ही हथियार व अन्य प्रकारके दुःख देनेके साधन विक्रियासे बना लेते हैं। नारकियोंको
कोल्हूमें पेलना, भट्टीमें जलाना, शस्त्रोंसे छेदना आदि अनेक प्रकारके क्लेश दिये जाते हैं।
इन नारकियोंकी आयु कमसे कम दस हजार वर्षकी व अधिकसे अधिक ३३ सागरकी होती
है। तिर्यग्लोकमें तिर्यंचोंकी कैसी अवस्था होती है, इस सम्बन्धमें "जगत्के जीवोंकी स्थिति"
नामके अधिकारमें विशेष वर्णन किया गया है। वहांसे पढ़कर जान लिया होगा। मनुष्य
लोकमें अनेक प्रकार की विचित्र स्थितियां हैं। कोई विकलाङ्ग है, कोई रोगी है, कोई दरिद्र
है, कोई श्रीमान् है, कोई पंडित है, कोई मूर्ख है, कोई विषयासक्त है, कोई आत्मध्यानरत है,
कोई मोक्षमार्गी है, कोई अरहंत भगवान् है। ये सब विचित्रतायें अशुभ भाव, शुभ भाव,
शुद्ध भावके परिणामस्वरूप हैं।

सब भवोंमें मनुष्यभव अनुपम भव है। इसी भवमें वह उपाय बनता है जिससे कि
परलोकका उत्पाद नष्ट होकर निर्वाण प्राप्त किया जाता है।

निर्वाण

समस्त क्लेश व उपाधियोंसे सदाके लिये बिल्कुल निवृत्त हो जानेको निर्वाण कहते
हैं। इसको अनेक ऋषियोंने अनेक प्रकारसे लक्षणोंमें बांधा है। कोई कहते हैं कि प्रकृतिकी
उपाधिसे मुक्त होनेको निर्वाण कहते हैं। प्रकृतिका अर्थ क्या है? इसे सब कुदरतके शब्दसे
समझते हैं। कुदरत पदार्थोंसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। पदार्थोंके ही विकारभावके संस्करण
को कुदरत कहते हैं। यदि वह प्रकृति (कुदरत) आत्माकी है तो आत्मा प्रकृतिसे कभी मुक्त
नहीं हो सकता। यदि प्रकृति अन्य पदार्थकी है तो वह अन्य पदार्थ कर्मके नामसे लोकख्यात
है। फिर तो निर्वाणका तात्पर्य हुआ कि कर्मकी उपाधिसे मुक्त होनेको निर्वाण कहते हैं।
कोई कहते हैं कि सुख, दुख, इच्छा, राग, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, धर्म व अधर्म आदि संस्कारों
के विनष्ट होनेको निर्वाण कहते हैं। सो ठीक ही है। लौकिक सुख दुःख, इच्छा, राग, द्वेष,
क्रिया, विकल्पक ज्ञान, पुण्य व पापका संस्कार नष्ट होनेका ही नाम निर्वाण है। इसमें भी
उन सबके निमित्तभूत उपाधिकी निवृत्तिकी बात निर्वाणके स्वरूपमें आ ही जाती है। कोई
परब्रह्मस्वरूपमें लीन होनेको निर्वाण कहते हैं। सो परमब्रह्म चैतन्यस्वरूप है। यद्यपि

होता है और मोहनीय कर्मका जघन्यस्थितिबंध सूक्ष्म साम्परायगुणस्थानवर्ती साधुके होता है। आयुकर्मका जघन्यस्थिति बंध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। आयुकर्म का जघन्य सत्त्व अयोगकेवलीके होता है, क्योंकि वहां वध्यमान आयु नहीं होती और भुज्यमान आयुके बंध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। विशेष यह है कि उत्तरप्रकृतियोंमें आहारकशरीर आहार-काङ्गोपाङ्ग व तीर्थंकर इन प्रकृतियोंको सम्यग्दृष्टि ही बांधते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं बांधते तथा देवायुकी अपेक्षा उत्कृष्ट बंध सम्यग्दृष्टिके होता है। इसी आधारपर कुछ अन्य प्रकृतियोंमें कुछ अन्तर हो जाता है।

सागरके कालका परिमाण बहुत है। इसे संख्यामें नहीं रखा जा सकता, किन्तु उपमा द्वारा जाना जा सकता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये— मानो दो कोश लंबा दो कोश चौड़ा, दो कोश गहरा गड्ढा है, उसमें अत्यन्त पतले बालोंके सूक्ष्म सूक्ष्म (जिनका दूसरा हिस्सा करना कठिन हो) टुकड़ोंको भर दिये जावें। उस भरावको खूब दावकर भरा जावे जैसे कि कई हाथी उसपर फिरा दिये गये हों। अब उसमें से ००—१०० वर्ष बाद एक टुकड़ा निकालें। जितने वर्षोंमें सब टुकड़े निकल जावें उतने वर्षोंको तो व्यवहारपल्य कहते हैं। इससे असंख्यातगुणे कालको उद्धारपल्य कहते हैं। इससे भी असंख्यातगुणे काल को अद्धापल्य कहते हैं। १० करोड़ अद्धापल्यको एक सागर कहते हैं। एक करोड़ सागरमें एक करोड़ सागरका गुणा करनेपर जो लब्ध हो, उसे एक कोड़ाकोड़ी सागर कहते हैं। कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव यदि तीव्र मोह मिथ्यात्व करे तो उसके उस समयके उस मोह-परिणामके निमित्तसे ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका मोहनीयकर्म (मिथ्यात्व प्रकृति) बंध जाता है। जो कर्म बंध जाते हैं उनका सत्त्व तब तक रहता है जब तक उदय, उदीरणा, संक्रमण, निर्जरा अथवा क्षय नहीं हो जाता।

जीव अपनी करनीका फल स्वयं कैसे पा लेता है अथवा जीव अपनी करनीके अनुसार फल पाता है? यह बात कर्मसिद्धान्तके माने बिना संगत नहीं बैठती। जीव शुभ अथवा अशुभ भाव करता है। उसी समय उस योग्य कर्मप्रकृतियां स्वयं बन्धको प्राप्त होती हैं व बंधनेके बाद सीमित समय तक रहती हैं। उनके उदय अथवा उदीरणा होनेपर जीव स्वयं विकारी होकर शुभभाव, अशुभभाव, सुख अथवा दुःखरूप परिणमन करता है। यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे स्वयं होता रहता है। लोकमें अनेक कार्य इस तरह होते रहते हैं। सूर्यका उदय होता है तब कमल खिल उठते हैं, लोग जाग उठते हैं, उल्लू अन्धे हो जाते हैं इत्यादि अनेक कार्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश देखे जा रहे हैं। ये कर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, आंखोंसे दिखते नहीं। अतः सहसा इनका अवबोध नहीं होता। फिर भी युक्ति, विज्ञानसे प्रसिद्ध ही है। इस जीवपर अनन्त कर्माणुओंका भार है, इसीसे ८४ लाख योनियों

परिचय पाया है वे मायासे विरक्त होकर यथार्थ पूर्णसत्यको देखकर अपना निर्बाध मार्ग बनाते हैं।

पूर्णसत्यका प्रतीक कोई शब्द नहीं है, फिर भी तत्त्वज्ञ महार्षियोंने इस सत्यका संकेत प्रणवमंत्र में किया है। यह प्रणवमंत्र है "ॐ", इसके उपाय, उपेय, उपासना आदि दृष्टियोंसे अनेक अर्थ हैं। उनमें सत्के मूलरूप व वस्तुस्वरूपका अर्थ उपयोगी होनेसे प्रधान मानकर निर्दिष्ट करना आवश्यक समझा जा रहा है। ॐ के तीन विभाग हैं—अ उ म्। अ = अव्यय, उ = उद्गम, म् = मध्य। अव्यय उद्गम मध्यात्मक वस्तुस्वरूप है अर्थात् व्ययोत्पादध्रौव्यात्मक वस्तुस्वरूप है। यह स्वयं परिपूर्ण है। इसका जो पर्याय है वह भी परिपूर्ण होता है, पूर्वपर्यायका व्यय होता है वह परिपूर्णका विलय है। तभी तो देखो इस आत्मीय पूर्ण तत्त्वको स्वभावरूपमें देखो, इस पूर्ण तत्त्वको विकाररूपमें देखो और देखो पूर्ण वह है, पूर्ण यह है, पूर्णसे पूर्ण उद्गत है, पूर्णमें पूर्ण विलीन है अर्थात् पूर्णसे पूर्ण निकल गया, अहो देखो फिर भी पूर्ण ही पूर्ण अवशिष्ट रहता है।

इस पूर्ण स्वभावकी, भगवान् आत्मस्वभावकी उपासना करनेसे प्रकटरूपमें भी यह सत्य पूर्णसत्यके अनुरूप विकसित होकर पूर्णसत्य प्रकट होता है। यही परमात्मा है और यही ब्रह्मत्व है। ॐ तत् सत् परमात्मने नमः।

———

आत्मभावना

मैं स्वयं अपने आप क्या हूं ? इसका परिचय व अनुभव पाकर उसी प्रकार भावना रखनेको आत्मभावना कहते हैं। मैं स्वयं अपने आप वह हूं जो स्वतःसिद्ध, निर्विकल्प, निजस्वरूपास्तित्वमात्र है। यद्यपि मैं परिणमनशील हूं और मेरे प्रतिसमय परिणमन होते रहते हैं तथापि परिणमन तो अध्रुव है और मैं अनादि अनन्त ध्रुव हूं। अतः मैं पर्यायमात्र नहीं, किन्तु स्वभावमात्र हूं। मेरे अतिरिक्त अन्य सब अनन्तानन्त जीव, सर्व अनन्तानन्त पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, असंख्यातकाल द्रव्य—इन सर्व परपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न हूं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि अनन्त गुणोंका अभेद पिण्ड हूं।

जैसे कि सभी द्रव्य परिणमनशील हैं, वैसे मैं भी परिणमनशील हूं। मेरे परिणमन प्रतिसमय नये-नये होते हैं, किन्तु वे सभी परिणमन मात्र अपने-अपने समयमें रहते हैं, अगले समयमें नहीं रहते। अतः मैं किसी परिणमनरूप नहीं हूं, किन्तु उन सब परिणमनोंमें रहने
न सब परिणमनोंको करनेवाला एक ध्रुव पदार्थ हूं, ऐसा परमपारिणामिक

उदय आवेंगे। मानो आबाधाकाल ? समय बाद उदयमें आवेंगे। सो सब उदयमें नहीं आवेंगे किन्तु उन ६३०० परमाणुओंमें से पहिले समयमें ५१२ द्वितीय समयोंमें ४८० इस तरह ३२-३२ कम हो होकर ८ वें समयमें २८८ ही उदयमें आवेंगे। फिर १०वें समयमें १६ घटकर २४०, फिर २२४, इस तरह १६-१६ घटकर १६वें समयमें १४४ उदयमें आवेंगे। फिर १८ वें समय में ८ घटकर १२०, फिर १९वें समयमें ११२, इस तरह ८-८ घटकर २४वें समयमें ७२ उदयमें आवेंगे। फिर २६वें समयमें ४ घटकर ६०, इस तरह ४-४ घटकर ३२वें समयमें ३६ उदयमें आवेंगे। फिर ३४वें समयमें २ घटकर ३०, फिर २८, इस तरह २-२ घटकर ४०वें समयमें १८ उदयमें आवेंगे। फिर ४२वें समयमें १५, इस तरह १-१ घटकर ४८वें समयमें ९ परमाणु उदयमें आवेंगे। यह सब दृष्टान्त है। उदय तो जब आता है अनन्त परमाणुके निषेक का उदय आता है। इस एक समयप्रबद्धके उदय योग्य निषेक ६ गुणहानिमें बट जाते हैं। यह तो प्रदेशोदयके परमाणुओंकी संख्याका दृष्टान्त है। इसमें उत्तरोत्तर समयोंमें प्रदेश कम होते गये हैं, परन्तु अनुभाग उत्तरोत्तर समयमें अधिक अधिक होता है।

प्रतिसमयके बांधे हुए कर्म इस तरहसे उदयमें अनेक बंट जाते हैं। तब किसी भी समयमें जो उदय आते हैं, वे अनेक समयोंके बांधे हुए कर्मोंमें से उदयमें आते हैं। दृष्टान्त में परमाणु व समयोंकी संख्या समझनेके लिये ही दी है। बंधते तो अनन्त परमाणु हैं और असंख्यात वर्षों तक की स्थिति बंधती है। एक समयमें बांधे हुए कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त तक भी उदयमें आते रहते हैं। सागरका प्रमाण कर्मतत्वके अधिकारोंमें लिखा गया है।

उदयका फल होना अटल है। उदयसे ही पहिले किसी आत्माके सुपरिणामोंके निमित्तसे परिवर्तन, परिनिर्जरण हो जाय तो यह अलग बात है, परन्तु उदयक्षणके समय तो उसका फल होता ही है। उदयसे एक समय पहिले भी परिवर्तन हो सकता है, जिसको कि स्तिबुक संक्रमण कहते हैं। इसकी सूक्ष्म बातका परिचय न हो या दृष्टि न दी जाय तो भले ही कह दिया जाय कि उदय भी टल जाता है, परन्तु उदयक्षणमें प्रकृतिके उदय होने पर उसका परिणाम टलता नहीं। हां यह बात और है कि उस औदयिक भावको उपयोग का बल मिल जाय तो वह भावबन्धका रूपक धारण करा देगा; यदि उपयोगका बल न मिला तो विशिष्ट कार्यका हेतु न बन सकेगा।

हे आत्मन्! इस सब नाना विचित्रताको औदयिक, औपाधिक जानो, कर्मका नाच जानो। यह सब कुछ भी तेरा स्वरूप नहीं है। इनसे विविक्त, ध्रुव निजचैतन्यस्वभावमात्र अपनेको अनुभवो। इस विधिसे कर्म स्वयं झड़ जाते हैं, संवृत हो जाते हैं, उदयकी चक्कीसे

हैं। जैसे अपनेको सेठरूपसे भानेवाला सेठाईका व्यवहार करता है, अपनेको अमुकका पिता हूं, इस रूपसे भानेवाला पितृव्यवहार करता है अर्थात् पुत्रका राग, पुत्रका पालन चिन्ता आदि करता है, इसी प्रकार अनेक दृष्टान्त जनना। इस तरह यह देखा गया है कि जो जैसा अपनेको भाता है वह उस रूप व्यवहार करता है। जो फिर अपने ज्ञान दर्शन स्वभावी भाता है, वह ज्ञाता द्रष्टा क्यों न बनेगा? अतः आत्मभावना करो तो आत्मव्यवहार ही करोगे, जिससे सहज प्रायः आनन्द प्राप्त होता है।

कल्याणार्थीका कर्तव्य

शाश्वत, हितकारी, सहज परम आनन्दके लाभको कल्याण कहते हैं। कल्याणके अर्थी पुरुषका कर्तव्य है कि जिन उपायोंसे कल्याणका लाभ हो उन उपायोंको करे। विज्ञानवाद, मुक्तिवाद, आर्षवाक्य एवं अनुभवसे यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि किसी भी पदार्थ का परिणमन कोई अन्य पदार्थ नहीं कर सकता। हाँ, मलिन परिणमन करनेवाले पदार्थ परपदार्थका निमित्त पाये विना मात्र अपने स्वभावसे मलिन परिणमन नहीं कर पाते; सो इसका भी मर्म यही है कि विकार परिणमनकी योग्यता वाले पदार्थ परपदार्थको निमित्तमात्र पाकर अपनी ही परिणतिसे विकाररूप परिणम जाते हैं। यह एक सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ भी कोई अन्य पदार्थ किसी पदार्थका परिणमन नहीं कर देता अर्थात् निमित्त उपादानका परिणमन नहीं कर देता। फिर भी इस सम्बन्धमें विशेष चर्चासे यहाँ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि मलिन परिणाम हितरूप नहीं और उसकी जरूरत है। परम आनन्दरूप अवस्था आत्माकी अपने आपमें प्रकट हो सकती है। उसे अन्य कोई आत्मा अथवा कोई पुद्गल आदि प्रकट नहीं करता। प्रत्येक आत्माकी आनन्द अवस्था उस ही आत्माकी सहजकलासे प्रगट हो सकती है।

परम आनन्दके लाभके लिये सर्व प्रथम वस्तुस्वरूपके यथार्थ विज्ञानकी अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि यह जीव अपनेको भूलकर वाह्य पदार्थोंमें रमकर ही तो आकुलित हो रहा है। सो वाह्य पदार्थोंसे निवृत्ति और निज पदार्थमें अनुष्ठान हुए विना वास्तविक आनन्द कैसे आ सकता है? वाह्यपदार्थसे हटना वाह्यपदार्थकी अहितरूपता जाने विना कैसे हो सकता है? वाह्यपदार्थकी अहितरूपताका ज्ञान उस पदार्थके यथार्थ परिचयके विना नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्मामें अनुष्ठान भी आत्माके यथार्थ परिचय विना नहीं हो सकता।

वस्तुका यथार्थस्वरूप क्या है? इस विषयका वर्णन पूर्वके अनेक प्रकरणोंमें आ गया है। अतः उसे यहाँ नहीं कहना है। संक्षेपमें यहाँ इतना जान लेना चाहिये कि आत्मा

निष्टकल्पनाजन्य हर्षविषाद तथा आयुस्थितिसे पहिले मरण अप्रमत्त जीवोंके नहीं होता है। अशुभ कर्मप्रकृतियोंकी उदीरणा फल देनेके रूपमें संक्लेश परिणामसे होती है। शुभप्रकृतियों की उदीरणा फल देनेके लिये विशुद्ध परिणामसे होती है, किन्तु निर्जरणके लिये यथासंभव सब प्रकृतियोंकी उदीरणा धर्मपरिणामसे होती है। हे आत्मन्! आत्माके सहजस्वभावरूप धर्मकी दृष्टि रखकर धर्मका पालन करो तो उदीरणासे भी मोक्षमार्गमें सहायता मिलेगी।

———

कर्मसंक्रमण

जीवके शुद्धभाव शुभभाव या अशुभभावके निमित्तको पाकर कर्मवर्गणायें अपने ही मौलिक कर्मकी प्रकृतिमें से किसी अन्य प्रकृतिरूप परिणम जानेको संक्रमण कहते हैं। आठ प्रकारके कर्मोंमें से केवल आयुकर्म ही ऐसा है कि जिसमें संक्रमण नहीं होता है। शेष ७ प्रकारके कर्मोंमें ही संक्रमण हो सकता है। इन सात प्रकारके कर्मोंमें भी परस्पर संक्रमण नहीं होता, किन्तु एक एक कर्मके जितने भेद हैं उन भेदोंमें ही परस्पर यथायोग्य संक्रमण होता है। जैसे वेदनीयकर्मके २ भेद हैं- (१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। इन दोनोंमें परस्पर संक्रमण हो जाता है। कभी अशुभ परिणामके निमित्तसे साता असातारूप परिणाम जाती है, कभी शुभपरिणामके निमित्तसे असाता सातारूप परिणम जाती है, कहीं शुद्ध परिणामके निमित्तसे भी असाता प्रकृति सातारूप परिणम जाती है इत्यादि। इसी प्रकार यथासंभव प्रत्येक कर्मके भेदोंमें समझना चाहिये।

संक्रमणके भेद ५ हैं। वे भेद भागहारकी प्रधानतासे हैं। जैसे-(१) उद्वेलनसंक्रमण-जहां उद्वेलन भागहारका भाग देनेपर एकभागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं वह उद्वेलन संक्रमण है। (२) विध्यातसंक्रमण-जहाँ मंद विशुद्धतायुक्त जीवके जिस प्रकृतिका बंध नहीं पाया जाय, ऐसी विवक्षित प्रकृतिके परमाणुओंमें विध्यात भागहारका भाग देने पर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमते हैं वह विध्यातसंक्रमण है। (३) अधःप्रवृत संक्रमण-जहाँ, जिस प्रकृतिका बंध संभव है उस जातिकी प्रकृतिके परमाणुवोंमें अधःप्रवृत्तभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिके परमाणुरूप परिणमते हैं, उसे अधःप्रवृत्तसंक्रमण कहते हैं। (४) जहाँ विवक्षित अशुभप्रकृतिके परमाणुवोंमें गुणसंक्रमणभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमें और प्रथम समयमें जितने परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमें हैं उससे असंख्यातगुणी दूसरे समयमें अन्यप्रकृतिरूप परिणमें, उससे असंख्यातगुणी तीसरे समयमें परिणमें, ऐसा गुणकार बने उसे गुणसंक्रमण कहते हैं। (५) गुणसंक्रमण होते होते अन्तमें जो एक फालिरूप (अन्तिम समयके निषेक) अवशिष्ट रहता है, वह साराका सारा अन्य प्रकृतिरूप

वस्तुके यथार्थस्वरूपकी प्रतीतिमें रहता है। वस्तुके यथार्थस्वरूपका परिचय होनेपर वह निःशङ्क रहता है, मोहको दूर ही कर देता है। सम्यग्ज्ञानसे सर्व क्लेश नष्ट हो जाते हैं। अतः कल्याणार्थियोंको यही उचित है कि सर्व उपायसे पक्षपात छोड़कर वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय प्राप्त करनेके लिये उपयोग लगावे और फिर उस परिचित स्वरूपकी प्रतीति रखे। चाहे दुनियां उस क्रियाको, धर्मको निन्दाकी दृष्टिसे देखे या प्रशंसाकी दृष्टिसे देखे उसकी परवाह कल्याणार्थी को नहीं करना चाहिये। पक्षपात छोड़कर सर्व आशावोंको त्यागकर स्वयं ही स्वयं जो स्वयंका अनुभव किया जाता है वही पन्थ है।

विशुद्ध कल्याणकी भावना रखनेवाले साधकको यदि यह समस्या आवे कि किस धर्मका मैं पालन करूं जिससे मेरा उद्धार हो, क्योंकि सभी लोग व प्रायः सभी गुरु अपने अपने धारण किये हुए मजहबकी प्रशंसा करते हैं तो ऐसी स्थितिमें साधकको सभी मजहबों का आलम्बन छोड़ देना चाहिये, जिस कुल व मजहबमें वह उत्पन्न हुआ है उसका भी चिन्तन छोड़ देना चाहिये, किन्तु साथ ही ममत्व, राग, द्वेषके विकल्प भी शान्त कर लेने चाहियें। इस स्थितिको बनाकर आराम व शान्तिसे कुछ स्थिर हो जावे, उसे अवश्य सत्य-स्वरूपका दर्शन होगा, अनुभव होगा। पश्चात् उसी तत्त्वकी प्रतीति सहित उसके अनुकूल आचरण बनावे व इस आराधनाका जिन्होंने फल पाया उनके शुद्धस्वरूपकी भक्ति करे, यह मोक्षमार्ग जिन शास्त्रोंमें मिले उसका सविनय मनन करे, इस आराधनामें जो लग रहे हैं उन गुरुवोंकी सेवा व संगतिमें रहे।

ये सब बातें कल्याणार्थीके सहज होने लगती हैं। भगवान् चैतन्यस्वभाव परमब्रह्म के दर्शन और अनन्यशरणताके प्रसादसे सर्व मङ्गल होते हैं, अर्थात् शाश्वत सहज आनन्द की सिद्धि होती है।

॥ भागवत धर्म समाप्त ॥

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

जितने अनुभागवाला उस कर्मप्रकृतिको बनना है वह उतने अनुभागवाले सजातीय प्रकृतिको वर्गणाओंमें वह कर्मप्रकृति मिल जावेगी। नीचेकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियां किस किस प्रकारसे ऊँची स्थितिवाली होती हैं? इसके जाननेके लिये निक्षेप, अतिस्थापना, अचलावलि, अतिस्थापनावलि उत्कर्षणके लिये अपकृष्ट द्रव्यको नजर रखकर कर्मापकर्षणपद्धतिकी तरह समझना चाहिये। इस पद्धतिको कर्मापकर्षण वाले अगले पाठमें दिखाया जावेगा। अन्तर केवल इतना है कि अपकर्षणमें तो ऊपरकी स्थितिका द्रव्य नीचेकी स्थितिमें मिलाया जाता है और उत्कर्षणमें नीचेकी स्थितिका द्रव्य ऊपरकी स्थितिमें मिलाया जाता है।

संक्लेश परिणामका निमित्त पाकर अशुभ कर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है और विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर यथासंभव शुभ प्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है। कर्म एक उस जातिका पौद्गलिक अणुवोंका स्कन्ध है। बद्धकर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण कर्मकी योग्यतासे स्वयं हो जाता है, किन्तु चूंकि ये उत्कर्षणादि परिणमन स्वभावपरिणमन नहीं हैं, अतः किसी उपाधिको निमित्त पाकर ही होते हैं। वह उपाधि है यहां जीवके विभाव परिणाम। कर्मोत्कर्षण अशुद्धभावोंके निमित्तसे होता है। अतः सुखार्थियोंका कर्तव्य है कि परका आश्रय करनेरूप अशुद्ध परिणामोंसे दूर हों ताकि कर्मोत्कर्षण न हो व अनन्तसंसार न बढ़े।

कर्मापकर्षण

जीवके शुभ या अशुभ या शुद्ध भावोंको निमित्त पाकर कर्मवर्गणावोंकी स्थितिका या अनुभागका कम हो जाना सो कर्मापकर्षण है। कर्मापकर्षण भी दो प्रकारका है—(१) कर्मस्थिति-अपकर्षण, (२) कर्मानुभाग अपकर्षण। कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है, उससे कम स्थिति हो जानेको कर्मस्थितिअपकर्षण कहते हैं और कर्मप्रकृतियोंमें जितना अनुभाग है उससे कम अंशोंका अनुभाग हो जानेको कर्मानुभागापकर्षण कहते हैं। कर्मस्थिति-अपकर्षणकी यह पद्धति है कि कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है उससे कम होकर उन्हें जितनी स्थितिवाला बनना है वे उतनी ही स्थितिवाले सजातीय कर्मप्रकृतियोंकी वर्गणाओंमें मिल जाती हैं। इसी प्रकार कर्मानुभागापकर्षणकी भी यह पद्धति है कि जितना कर्मप्रकृतियोंमें अनुभाग है उससे कम होकर जितना अनुभागवावाला उन्हें होना है, उतने अनुभागवाले सजातीय कर्मप्रकृतिकी वर्गणाओंमें वे मिल जाती हैं।

ऊपरकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियां किस प्रकार नीचेकी स्थितिमें मिलती है? इसकी पद्धति दिखाई जाती है—कर्मबन्धके अनन्तर एक आवलि कालमें तो अपकर्षण होता नहीं, इस कालको अचलावलि कहते हैं। इसके बाद उदयावलि आती है। इसमें उन्हीं उपरितन

जानेको कर्मबन्धापसरण कहते हैं। बन्ध रुक जानेका नाम बन्धव्युच्छित्ति भी है, परन्तु बन्धव्युच्छित्ति व बन्धापसरणमें यह अन्तर है कि जिस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति जिस पद (गुणस्थान) में होती है उस प्रकृतिका बन्ध उससे आगे किसी भी गुणस्थानमें नहीं होता है और जिस प्रकृतिका जिस पदमें (गुणस्थानमें) बन्धापसरण होता है उसका उस भावके विलय हो जानेपर उसी पद (गुणस्थान) में बंध हो सकता है तथा उनमें से अनेक प्रकृतियोंका जिनकी कि बन्धव्युच्छित्ति उस गुणस्थानमें नहीं हुई, अगले गुणस्थानमें भी बन्ध हो सकता है।

कर्मबन्धापसरणका वर्णन सम्यक्त्वके सन्मुख हुए मिथ्यादृष्टि जीवके सम्बन्धमें आया । वह इस प्रकारसे है– प्रायोग्यलब्धिमें जो विशुद्ध परिणाम होते है उसको निमित्त पाकर ी लब्धिमें उत्तरोत्तर स्थितिबन्ध कम होते रहते हैं, जिसमें पल्यके संख्यातवें भाग कम थतिबंध होते जाते हैं। जब स्थितिबन्ध पृथक्त्व (३ से ९) सागर कम हो जाता है तब रकायु प्रकृतिबन्धापसरण होता है तथा उसी क्रमसे घटते घटते जब पृथक्त्व सौ सागर ार कम हो जाती है, तब तिर्यगायु प्रकृतिका बन्धापसरण हो जाता है। इस तरह ३४ धापसरण होते हैं।

इसी तरह जिन जिन गुणस्थानोंमें जिन जिन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती हैं, नका स्थितिबन्धापसरण होता रहता है। इस तरह स्थितिबन्धापसरण होते होते उस गस्थानके अन्तमें उस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। बन्धव्युच्छित्ति होनेपर उसके गेके गुणस्थानोंमें फिर बन्ध नहीं होता है, किन्तु सम्यक्त्वके अभिमुख सातिशय मिथ्या-ष्ट जीवके जो प्रकृतिबन्धापसरण होता है, उनमें से अनेक प्रकृतितोंका बन्ध सम्यक्त्व नेपर भी छठे गुणस्थान तकके नीचे गुणस्थानोंमें यथासंभव हो जाता है। अतः उन्हें धापसरणके नामसे ही आगममें कहा है, बन्धव्युच्छित्तिके नामसे नहीं।

प्रकृति बन्धापसरण होनेके लिये स्थितिबन्धापसरण होना आवश्यक है। स्थिति-न्धापसरण हो होकर ही प्रकृतिबन्धका अपसरण (विच्छेद) होता है। कर्मबन्धापसरण द्यपि सातिशयमिथ्यादृष्टिके होता है व किन्हीं किन्हीं बन्धापसरणोंका तो यह हाल है कि म्यक्त्व होनेपर कुछ गुणस्थान तक कर्मबन्ध भी होता है तो भी कर्मबन्धापसरण भलेके लिये है। अतः उस योग्य विशुद्ध परिणाम रखना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

कर्मोपशम

आत्माके विशिष्ट निर्मल परिणामको निमित्त पाकर आगेकी स्थितिवाले कर्मवर्गणावों ी उदीरणा न हो सकनेको कर्मोपशम कहते हैं। यह उपशम दो प्रकारका है—(१) प्रश-

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

भागवत धर्म

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक —
नेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्यमन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

प्रथम संस्करण]
१०००

सन् १९७१

[मूल्य ५)

र्वक विपाक निर्जरा मंदकषाय अथवा तीव्रकषायके निमित्तसे होती है। मंदकषायके निमित्त वह निर्जरा हो तो आगामी कालमें उदय आनेवाली अनेक शुभ प्रकृतियाँ शीघ्र फल देनेके लये पहिले आकर खिर जाती हैं व उस समय अन्य शुभ बन्धन हो जाता है। तीव्रकषायके नेमित्तसे वह निर्जरा हो तो आगामी कालमें उदयमें आनेवाली अनेक अशुभ प्रकृतियाँ शीघ्र फल देनेके लिये पहिले आकर खिर जाती हैं।

अविपाक निर्जरामें साक्षात् उदयरूप तो उसका होता है जो अपकर्षण योग्य संक्रमण आदि विधियोंसे चलकर अन्तमें प्रायः पूर्णसत्ता नाशके लिये जो उदयरूप आता है और संक्रमणपूर्वक निर्जरा गुणश्रेणि, संक्रमण अधःस्थितिगलन आकर्षण आदि विधियोंसे कृश व संक्रान्त होकर उदीरणारूप होती हैं। जिन निषेकोंमें ये प्रदेश मिलते हैं उनमें पहिले समयमें मिलनेवाले द्रव्यको प्रथम फालि, द्वितीय समयमें मिलनेवाले द्रव्यको द्वितीयफालि, इसी तरह अन्य फालि जानना। अन्तिम समयमें मिलनेवाले द्रव्यको अन्तिमफालि द्रव्य कहते हैं। निर्जीर्यमाण द्रव्य कितने कितने प्रमाणमें उत्तरोत्तर समयोंमें मिलाया जाता है? कहीं तो अधिक अधिक और कहीं गुणश्रेणीरूप अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यातगुणाके रूपमें मिलाया जाता है।

कर्मस्थितिनिर्जरा

आत्माके शुद्ध परिणामोंके निमित्तसे पौद्गलिक कर्मोंकी स्थितिका क्षरण हो जाना सो कर्मस्थितिनिर्जरा है। कर्मोंकी स्थितिकी निर्जरा इस प्रकार होती है कि स्थिति कम होकर जितनी स्थितिके रहना हो, उस स्थितिवाले निषेकोंमें वे मिल जाते हैं। इस निर्जरामें कुछ लगातारकी स्थितियोंसे निर्जीर्यमाणकर्म प्रकृतियां मिलती जाती हैं। जैसे कर्मोंकी बहुत अधिक स्थिति है। उनमें निषेक (समय समयमें उदय आने योग्य परमाणु समूह) बहुत अधिक हैं ही। सम्यक्त्व व चारित्र परिणामके बलसे उनमें से उदयावलिसे आवलिके ऊपरके निषेक वर्तमान समयसे ऊपर आवलिके प्रायः एक त्रिभागको छोड़कर बाकी दो भागोंके निषेकमें मिलते हैं। फिर इस विधानके बाद एक एक समय अधिक ऊपर के निषेकमें मिलते हैं। इस तरह मिलते-मिलते अन्तिम आवलिसे नीचेके निषेकोंमें मिल जाते हैं। जितने स्थितिके निषेक जितने कम स्थितिके निषेकमें मिले तो जिनमें मिले उनकी जो आखिरी स्थिति है उतनी स्थिति कहलाने लगती है। अब जितनी स्थिति घट गई उतनी स्थितिकी निर्जरा कहलाने लगती है।

एक यत्नमें जितनी स्थितिका नाश हुआ उतने पूर्ण एक भागको स्थितिकाण्डक (स्थितिखण्ड) कहते हैं। एक स्थितिकाण्डकमें जितनी स्थिति घटी उतने स्थितिसमयोंको स्थितिकाण्डकायाम कहते हैं। ये निषेक जिन निषेकोंमें मिलते हैं उन्हें निक्षेप कहते हैं व

२८	श्रीमान्	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२६	,,	दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर	मेरठ
३८	,,	दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	,,	माता जी धनवंतीदेवी जैन राजागंज	इटावा
४०	,,	ब्र० गुल्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुड़की
४१	,,	लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,,	लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	चिलकाना
४३	,,	हुकमचंद मोतीचंद जैन,	सुलतानपुर
४४	,,	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर	मेरठ
४५	श्रीमती	कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	सुलतानपुर
४६	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४७	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४८	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४९	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
५०	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर	मेरठ
५१	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

वस्तुका आघात आदि हुआ तो उस निमित्तको पाकर चैन टूट गई। लो, अब घड़ी एक दिन ही चलकर बन्द हो गई अथवा जैसे मोटरमें एक गेलन पेट्रोल देनेपर मीटर बीस मील जाती है, उस मोटरको ५ मील जानेपर किसी प्रकार एक वृक्षसे आघात हुआ, टङ्की फट गई, पेट्रोल सब गिर गया। लो अब मोटर ५ मील चलकर ही बन्द हो गई। इसी तरह विष-भक्षण, रोग, शस्त्रघात आदिको निमित्त पाकर आयुकर्मके शेप निपेक बीचमें ही खिर जाते हैं तो यह अकालमृत्यु हो गई।

अकालमृत्यु व सर्वज्ञज्ञान—ये दो दृष्टियाँ हैं। सर्वज्ञज्ञानकी ओरसे वितर्क करो तो जब जो देखा जाना गया वह तब हुआ। इससे असमय होनेको कुछ नहीं है। विज्ञानपद्धति का अनुसरण करो तो अकाल मृत्यु आदि जब जैसे जिस विधानसे होते-होते हो जाते हैं।

अकालमृत्यु देवों, नारकियों, भोगभूमियों, मनुष्यतिर्यञ्चों व चरमशरीरियोंके नहीं होती है। इस विधिनिपेधसे भी अकालमृत्यु सिद्ध हुई। इस स्थितिनिर्जराको उदीरणामरण कहते हैं। उदीरणामरण न होना मोक्षमार्गियोंकी बात है। उस योग्य रत्नत्रयपरिणाम होना कल्याणकी बात है।

कर्मविपाकनिर्जरा

कर्मवर्गणाओंमें जो कि कर्मरूप हुई हैं, उनमें फल देनेकी (व्यवहारतः) शक्ति है। उस फलदानशक्तिके अंश जब निर्जरित होते हैं याने कम होते हैं उसे विपाकनिर्जरा कहते हैं। इसके निर्जराकी पद्धति भी स्थितिनिर्जराकी तरह है। एक यत्नमें जितने अनुभागस्पर्द्धक (फलदानशक्ति) का नाश करना है उनके समूहरूप एक भागको अनुभागकाण्डक कहते हैं। एक काण्डमें जितना अनुभाग नष्ट हुआ उसे अनुभाग काण्डकायाम कहते हैं। एक काण्डकको नीचले अनुभागस्पर्द्धकोंमें मिला देनेको अनुभागकाण्डकोत्करण कहते हैं। यह संक्रमण जब तक होता है उतने समयको अनुभागकाण्डकोत्करणकाल कहते हैं। ऐसे अनेक अनुभागकाण्डकघात होते हैं, जिनके कारण अनुभागकी निर्जरा होती है। इसी प्रसंगमें विशुद्धताकी वृद्धि होनेपर अनुभागकाण्डकघात तो बन्द हो जाता है और अनुसमयापवर्तन होने लगता है, जिससे अब प्रतिसमय अनन्तगुणा अनुभाग नष्ट होने लगता है।

अनुभागनिर्जरामें भी वही पद्धति है जो स्थितिनिर्जरामें है; अन्तर यह है कि अनुभागनिर्जरामें तो आयाम अनुभागके अंशोंका लेना होता है और स्थितिनिर्जरामें तो आयाम कालस्थितिके समयोंका लेना होता है। अनुभागनिर्जरा हो चुकनेपर प्रकृति भी नहीं ठहर सकती, क्योंकि जिसमें कुछ अनुभाग ही नहीं वह किस जातिकी प्रकृति कहलावेगी ?

भागवत धर्म

सहजानन्द डायरी १९५९

आद्य जल्प

आज उपवास सानन्द हो रहा है। इस वर्षकी डायरी लेखनके लिये बड़े आकार प्रकारकी डायरी आई है। इतने लम्बे विलक्षण विचार तो उठते नहीं, जो उनसे ये विस्तृत पत्र भरे जावें। अतः आज यह विचार कर कि बहुत समयसे लोग मुझसे यह कहते चले आ रहे हैं कि धर्मके बारेमें बहुमुखी जानकारी हो सके, ऐसी पुस्तक होनी चाहिये, सो यह संकल्प हुआ है कि सही बात बिना बनावटके सीधेसादेरूपमें लिखी जावे। इस पुस्तकका नाम "भागवतधर्म" उपयुक्त जंचा है, क्योंकि सच्चिदानन्दमय वीतराग सर्वज्ञ भगवान्की भक्तिद्वारसे गुजर कर तत्त्वज्ञानके यत्नमें ही आत्मधर्मका परिचय हुआ है। जो आत्मधर्म अनन्तज्योतिर्मय व सहजानन्दमय प्रसिद्ध हुआ है व जिसकी उपासनामें ही आत्मकल्याण निश्चित है। यही सत्य शान्तिपथ है। इन्हीं कारणोंसे इस पुस्तकके अपर नाम चार और हो सकते हैं— (१) आत्मधर्म, (२) आत्मकल्याण, (३) सत्य शान्तिपथ, (४) सहजानन्दमार्ग।

यह कार्य मुझ जैसे अल्पज्ञानीके लिये बहुत बड़ा कार्य है। भगवद्भक्ति एवं आत्मोपासना मुझमें अधिकाधिक वर्तो, जिसके प्रसादसे प्राप्त हुई निर्मलता एवं धर्मोत्साहमें इस कार्यको निर्विघ्न परिसमाप्त कर लिया जावे।

इस पुस्तकके विषय इस प्रकार हो सकेंगे—विश्वके पदार्थ, जगत्के जीवों की स्थिति, चेतनकी महिमा, क्लेश मुक्तिका उपाय, दृष्टिवाद, विश्वव्यवस्था, वैदिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, ईसाई मजहबसे प्राप्तव्य शिक्षा, मुसलिम मजहबसे प्राप्तव्य शिक्षा, हिन्दू दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, नैयायिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, निष्कामकर्मयोग दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, मीमांसकदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, अद्वैत दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, वैशेषिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, सांख्यदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, बौद्ध दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, पातञ्जलियोगदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, वेदान्त (उपनिषद) दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, जैनदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, आधुनिक मजहब, आत्मस्वरूप, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, काल रचना, लोकरचना, जीवगणना, कर्मसत्त्व, कर्मोदय, कर्मोदीरणा, कर्मसंक्रमण, कर्मोत्कर्षण, कर्मापकर्षण, कर्मबन्धापसरण, कर्मोपशम, कर्मस्थितिनिर्जरा, अकालमृत्यु, कर्मविपाकनिर्जरा, कर्मप्रकृतिनाश,

कर्मक्षयोपशम

कर्मकी उस अवस्थाको क्षयोपशम कहते हैं, जिसके निमित्तसे जीवके पूरे रूपसे गुण तो न घटते जावें, किन्तु कुछ अंश प्रकट रहें और कुछ अंश प्रकट न रहें। जैसे—मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम दृष्टान्तके लिये लें—मतिज्ञानावरण प्रकृतिमें जितने स्पर्द्धक (कर्मवर्गणाओंका समूह) हैं उनमें कुछ तो सर्वघाती स्पर्द्धक हैं और कुछ देशघाती स्पर्द्धक हैं; उनमें से वर्तमानस्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका तो उदयाभावी क्षय हो और आगामी स्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम हो और देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय हो तो ऐसी अवस्थाको मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम कहते हैं। मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञान प्रकट होता है। यहाँ सर्वघाती स्पर्द्धकोंका (वर्तमानके) उदयाभावी क्षय है। इस कारण ज्ञानगुणका पूर्णघात नहीं होता, आगामी सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम है। इसलिये ज्ञान गुणका पूर्ण घात नहीं होता, देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय है। अतः कुछ अंशोंमें ज्ञानगुण प्रकट रहता है। उदयाभावी क्षयका अर्थ है-उदयमें आकर निष्फल खिर जाना। उपशमका अर्थ है—उदय या उदीरणामें न आ सकना। इसी प्रकार यथासंभव प्रकृतियोंमें लगा लेना। सम्यग्मिथ्यात्व नामका भाव भी क्षायोपशमिक भाव है। वह सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे होता है। इस प्रकृतिका उदय ही क्षयोपशमतुल्य है, क्योंकि इसके उदयमें न तो सम्यक्त्व होता है और न सम्यक्त्वका पूर्णघात होता है। अणुव्रतभाव भी क्षायोपशमिक है। उसके वर्णनके दो प्रकार हैं— (१) अप्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षयसे व आगामी उदयमें आ सकने वाले उन्हींके उपशमसे तथा प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत भाव होता है। यहां अणुव्रतके लिये प्रत्याख्यानावरण देशघातीके तुल्य है। (२) पूर्वकषाय रहित जीवके प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत होता है। इस प्रकार महाव्रतको भी जानना अर्थात् उसके भी २ प्रकार वर्णित हैं— [१] प्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षय व उपशम से तथा संज्वलनकषायके उदयसे महाव्रतरूप क्षायोपशमिक भाव होता है। [२] पूर्वकषाय रहित जीवके संज्वलन कषायके उदयसे महाव्रत भाव होता है। महाव्रत भी क्षायोपशमिक भाव है। इत्यादि प्रकारसे क्षयोपशमके नाना प्रकार होकर भी क्षायोपशमका जो मूल लक्षण है कि गुणका पूर्णघात तो न हो, किन्तु कुछ अंश प्रकट हो—इसका विघात नहीं होता।

जीवके कल्याणके लिये प्रथम ही प्रथम क्षायोपशमिक भाव ही सहायक होता है। जो ज्ञान भेददृष्टिका कारण बनता है वह क्षायोपशमिक ही तो है। कर्मका क्षयोपशम जीव के गुणको प्रकट नहीं करता, किन्तु ऐसा ही सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि प्रकृति का क्षयोपशम होनेके समय जीवमें उसके अनुरूप गुण व्यक्ति होती है। जीवके गुणोंके इस

सभी स्थूल रूपमें परिणम जाता है। यहां एक पदार्थका लक्षण घटित होता है। परमाणुमें जो रूपपरिणमन है वह परमाणुमें पूरेमें है और परमाणुसे बाहर नहीं है। इस प्रकार यह शरीर एक पदार्थ नहीं, किन्तु अनन्त पदार्थों (परमाणुओं) का पिण्ड है।

अब बाहर अनेक जगतोंपर भी दृष्टि पसारें। जैसे कि यह मैं आत्मा एक हूं, इस प्रकार एक एक करके समस्त आत्मा अक्षय अनन्तानन्त हैं। उन आत्माओंमें अनन्त आत्मा तो मुक्त आत्मा हैं और उनसे अनन्तानन्तगुणे अक्षय अनन्तानन्त संसारी आत्मा हैं। संसारी आत्माओंमें असंख्यात तो अन्तर्मुख आत्मा हैं और अक्षय अनन्तानन्त बहिर्मुख आत्मा हैं। आत्मा व जीव एकार्थवाचक नाम हैं, क्योंकि आत्मा तो उसे कहते हैं जो "यः स्वभावतः सर्वार्थान् अतति गच्छति व्याप्नोति ज्ञानद्वारा स आत्मा" इस व्युत्पत्तिसे जो स्वभावसे समस्त पदार्थोंमें ज्ञानद्वारा व्यापे वह आत्मा है; तथा जीव उसे कहते हैं "यः चैतन्यप्राणधारणेन जीवति स जीवः" जो चैतन्य प्राणके धारणसे जीवे उसे जीव कहते हैं। यद्यपि आत्मा व जीव एक चेतन द्रव्यके अपर नाम हैं तो भी प्रायः ऐसी रूढ़ि है कि स्वभावदृष्टिसे देखे गये चेतनको आत्मा कहते हैं और परिणमन (पर्याय) की दृष्टिसे देखे गये चेतनको जीव कहते हैं। इसी आधारपर विशद भिन्नता समझनेके लिये आत्मा व जीव अलग-अलग सत्तारूपमें मान लिये जावें। फिर भी जीव आत्मामें लीन होकर ही दुःखसे मुक्त होता है। इस सब कथनमें रहस्य है और इस रहस्य तक पहुंचनेपर ही सत्य आनन्दका अनुभव होता है। इस बातको आगे स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकरणमें तो इतना निश्चय करना है कि जीव अक्षय अनन्तानन्त हैं। पुद्गल अक्षय अनन्तानन्त हैं। ये दोनों जातिके द्रव्य क्रियावान् भी हैं। अतः ये निज उपादानशक्तिके परिणमनसे जब गतिक्रिया करते हैं उस समय धर्म नामक द्रव्य गतिक्रियाका उदासीन सहायक होता है और जब चलते हुए ये ठहरते हैं, उस समय अधर्म नामक द्रव्य स्थितिक्रियाका उदासीन सहायक होता है। ये धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य एक ही हैं और समस्त लोक व्याप्त हैं। आकाशद्रव्य एक है और यह अनन्तप्रदेशी है, इसकी कहीं भी सीमा नहीं। केवल यह भेद कल्पनामें कर लिया है कि जितने आकाशमें यह लोक है उतना तो लोकाकाश है और उससे बाहरका आकाश अलोकाकाश है। उक्त समस्त द्रव्योंके परिणमनका हेतुभूत कालद्रव्य है। ये कालद्रव्य असंख्यात हैं और लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य है।

इस प्रकार अक्षय अनन्तानन्त जीव, अक्षय अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य व असंख्यात कालद्रव्य इस तरह अनन्तानन्त पदार्थ हैं। इन पदार्थोंमें से पुद्गल नामक पदार्थ तो मूर्तिक है याने रूप रस गन्ध स्पर्श वाले हैं और मिलकर स्कन्धरूपमें एक पिण्ड हो जावें, ऐसी योग्यता वाले हैं, बाकीके पाँचों तरहके पदार्थ

मोहनीयकी ३ व अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ–इन ७ प्रकृतियोंका मिलकर क्षयोपशम बनता है क्योंकि इनमें १ सम्यक्त्वप्रकृति तो देशघाती है बाकी ६ सर्वघाती हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उदय हो तो अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम कहलाता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और संज्वलन क्रोध मान माया लोभका उदय हो तो प्रत्याख्यानावरणका क्षयो- कहलाता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद——इनका क्षयोपशम नहीं होता। इनमें उदयका महत्ता व तीव्रता के कारण तारतम्य हो जाता है।

अन्तरायकर्मकी ५ प्रकृतियां हैं—[१] दानान्तराय, [२] लाभान्तराय, [३] भोगान्तराय, [४] उपभोगान्तराय, [५] वीर्यान्तराय। इन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है। जिन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है वे प्रकृतियां जिन गुणोंका घात करती हैं क्षयोपशममें उन गुणोंका सर्वथा घात नहीं होता है, कुछ अंश प्रकट रहते हैं और कुछ अंश अप्रकट रहते हैं।

जीवके कल्याणके लिये सर्वप्रथम क्षयोपशमलब्धि अवकाश दिलाती है। कर्मप्रकृतियोंका हल्का होना अथवा क्षयोपशम होना सो क्षयोपशमलब्धि है। क्षयोपशमलब्धिसे विशुद्धिलब्धि प्राप्त होती है। विशुद्धिलब्धि प्राप्त होनेपर देशनालब्धि हो सकती है। इसके अनन्तर यथोचित मनन संस्कार हो जानेपर प्रायोग्यलब्धि हो जाती है। प्रायोग्यलब्धिके बाद ही करणलब्धि हो सकती है। उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़नेको विशुद्धिलब्धि कहते हैं। उपदेशके अवधारण कर लेनेको देशनालब्धि कहते हैं। विशेष विशुद्ध भाव होनेके कारण कर्मों की स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण ही रह जानेकी स्थिति प्राप्त कर लेनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करणरूप निर्मल परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं।

कर्मक्षयका उपाय भी क्षयोपशमकी प्राप्ति है। क्षयोपशमका उपाय मन्द कषाय व तत्त्वज्ञानका उपयोग है। अतः तत्त्वज्ञानके उपयोग व मन्दकषायरूप वर्तनमें यत्न करना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

कर्मक्षय

कर्म प्रकृतिका पूर्णरूपसे दूर हो जाने व उसके पुनः न आ सकनेको कर्मक्षय कहते हैं। समस्त कर्मोंके क्षयको भी क्षय कहते हैं और कर्मोंकी १४८ प्रकृतियों में से किसी भी

मान, पश्चात् संज्वलन मायाका नवमें गुणस्थानमें ही क्षय हो जाता है। संज्वलन लोभका सूक्ष्मसाम्परायनामक १० वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

आयुकर्मकी ४ प्रकृतियाँ हैं—(१) नरकायु, (२) तिर्यग्गायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु। इनमें से नरकायु, तिर्यग्गायु व देवायु—इन तीनका तो सत्त्व ही उसके नहीं है जिसे मोक्ष जाता है। रही मनुष्यायु, सो मनुष्यायुका १४ वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

नामकर्मकी ९३ प्रकृतियां हैं। उनमें से नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, उद्योत, आताप, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर इन १३ प्रकृतियोंका नवमें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है। देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य औदारिकशरीर, वैक्रियकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियकअंगोपांग, आहारक अंगोपांग, निर्माण, औदारिक बन्धनादि ५ बंधन औदारिकसंघातादि ५ संघात, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातीसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान, हुण्डकसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, असंप्राप्तस्टपाटिका संहनन, ८ स्पर्शनामकर्म, ५ रस नामकर्म, २ गंधनामकर्म, ५ वर्णनामकर्म, स्थिर, शुभ, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, श्वासोच्छ्वास—इन ७० प्रकृतियोंका अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थानके द्विचरम समयमें क्षय हो जाता है। मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर—इन १० प्रकृतियोंका अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थानके अन्तमें क्षय हो जाता है।

गोत्रकर्मकी २ प्रकृतियाँ—[१] नीचगोत्र, [२] उच्चगोत्र। इनमेंसे नीचगोत्रका क्षय अयोगकेवली गुणस्थानके द्विचरम समयमें होता है।

अन्तरायकी ५ प्रकृतियाँ हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय—इन पाँचों अन्तरायोंका १२ वें गुणस्थानके अन्तमें क्षय हो जाता है।

१४ वें गुणस्थानके अन्त तक सभी कर्मोंका पुनर्क्षय हो चुकता है। अतः इसके अनन्तर ही आत्मा कर्मरहित सिद्ध प्रभु हो जाता है।

कर्मप्रकृतिके क्षय होनेकी प्रायः इस प्रकार पद्धति है—किसी भी कर्मप्रकृतिके क्षय होनेके लिये उस प्रकृतिका अनुभाग घात होता है, सो उस समग्र अनुभागके अंशोंके काण्डक बनते हैं, उनमेंसे अनेक काण्डकोंका घात होता है। इसी प्रकार उस प्रकृतिकी स्थितियोंका काण्डकोंमें घात होता है और प्रदेशों अर्थात् कार्माणवर्गणाओंका भी कट कट कर पहिली

पुद्गलमें जो चार गुण हैं वे पुद्गलमें अनादि अनन्त रहते हैं और जैसे कि जीवमें ज्ञानादिगुणोंका तादात्म्य है वैसे ही रूपादिगुणोंका तादात्म्य पुद्गलमें है। ये गुण परिणमते रहते हैं। ये परिणमन इतने प्रकारसे होते हैं—

रूपके परिणमन ५ प्रकारके हैं—१-कृष्ण, २-नील, ३-पीत, ४-रक्त, और ५-श्वेत। स्कन्धोंमें और और प्रकारके भी रंग दीखते हैं, वे भिन्न-भिन्न वर्णोंमें परिणत पुद्गलोंके संयोगसे ऐसे दीखते हैं। इस बातको इन शब्दोंसे कह सकते हैं कि कई रंगोंके मेलसे भी कितने ही रंग हो जाते हैं। जैसे कि नीला व पीला मिलनेसे हरा हो जाता है आदि।

रसके परिणमन ५ प्रकारके हैं—[१] अम्ल (खट्टा), [२] मधुर (मीठा) [३] कटु (कड़ुवा), [४] तिक्त (तीखा), [५] कषायला। अति सूक्ष्म स्कन्ध व परमाणुओंके रस आदि किन्हीं भी परिणमनोंका इन्द्रियोंसे बोध नहीं होता है, किन्तु स्थूल स्कन्धोंके इन परिणमनोंका बोध हो सकता है। किसी-किसी स्कन्धका स्पर्श ज्ञानमें आ जाता, रसादि नहीं, किसीका गन्ध, किसीका कुछ, बाकी ज्ञानमें आता नहीं, सो वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें अमुक ही गुण है बाकी नहीं, क्योंकि पुद्गलमें चारों ही गुण एक साथ रहते है, चाहे कुछ ज्ञानमें आवे व कुछ ज्ञानमें न आवे।

गंध गुणके परिणमन दो प्रकारके होते हैं— १–सुगन्ध, २–दुर्गन्ध। जितने भी गंधके प्रकार हैं वे सब इन्हीं दो प्रकारोंके विस्तार हैं।

स्पर्श गुणके परिणमन ४ तो द्रव्यगत हैं और ४ आपेक्षिक है। इस प्रकार ८ परिणमन होते हैं– (१) स्निग्ध (चिकना), (२) रूक्ष (रूखा), (३) शीत (ठंडा), (४) उष्ण (गर्म), (५) कठोर (कड़ा), (६) कोमल (नरम), (७) लघु (हल्का), (८) गुरु (भारी)। इसमें से पहिलेके ४ परिणमन तो द्रव्यगत हैं, इसलिये वे परमाणुमें भी पाये जाते हैं और स्कन्धोंमें भी पाये जाते हैं, परन्तु अनन्तरके ४ परिणमन हैं, वे आपेक्षिक हैं। इसलिये स्कन्धोंमें तो पाये जाते हैं, परमाणुओंमें नहीं।

यह समस्त विश्व पूर्वोक्त अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य, इस प्रकार अनन्तानन्त पदार्थोंका समूह है। इस सबको अस्तित्व (सत् स्वरूप) की अपेक्षा एक कहा जाता है। व्यक्तिगत परिणमन से ज्ञानमें जुदे-जुदे भी आते हैं और अनेक युक्तियोंसे भी प्रसिद्ध हैं। अतः स्वरूप सत्त्वकी अपेक्षा पदार्थ अनेक हैं। दृश्यमान जितने भी स्कन्ध हैं वे सब ब्रह्म (जीव) के विकार–इस कारण प्रसिद्ध हैं कि ये सब किसी न किसी प्रकारके जीवके शरीर हैं, जैसे चौकीका काठ पहिले पेड़ ही तो था, वह वनस्पतिकाय जीवका शरीर है। सोना, चाँदी पृथ्वीकाय जीवका शरीर है इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जो कुछ दिखता है उसकी शकलका

भी भवमें जन्म ले लेता है। मनुष्य मरकर पशु हो सकता है, पशु मरकर मनुष्य हो जाता है इत्यादि। हां किन्हीं खास कारणोंके वजहसे कुछ ही नियम ऐसे हैं जैसे कि देव मरकर देव नहीं होगा, देव मरकर नारकी नहीं होगा, नारकी मरकर देव नहीं होगा, नारकी मरकर नारकी नहीं होगा, देव मरकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय नहीं होगा, अग्नि व वायु मरकर मनुष्य नहीं होगा इत्यादि। हां तो उक्त ७ प्रकारके जीवोंमें जब कोई जन्म लेता है तो पूर्वभवके अन्त समयसे ही वह जीव अपर्याप्त कहलाने लगता है। अर्थात् जब तक नवीन शरीरकी शरीररूप परिणमने बढ़नेकी योग्यता नहीं हो जाती है तब तक वह जीव अपर्याप्त कहलाता है। इन अपर्याप्त जीवोंमें कुछ तो ऐसे हैं जो पर्याप्त न हो पावेंगे, अपर्याप्त अवस्थामें ही मरण कर जावेंगे तथा कुछ जीव ऐसे हैं जो पर्याप्त नियमसे होंगे व पर्याप्त होनेसे पहिले मरण ही नहीं कर सकते। इन दोनोंको अपर्याप्त कहते हैं। जब शरीर परिणमनेकी योग्यता हो जाती है तब वे पर्याप्त कहलाते हैं। एक दृष्टिसे वे जीव भी पर्याप्त कहलाते हैं जो अभी तो अपर्याप्त दशामें हैं, किन्तु पर्याप्त जरूर होंगे। एक भवमें अपर्याप्त रहनेका समय एक मिनटसे भी बहुत कम होता है।

चूंकि उक्त सातों प्रकारके जीव पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों तरहके होते हैं। अतः ये सब संसारी जीव १४ प्रकारोंमें जानना चाहिये—[१] सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, [२] सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, [३] बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, [४] बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, [५] द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, [६] द्वीन्द्रिय पर्याप्त, [७] त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, [८] त्रीन्द्रिय पर्याप्त, [९] चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, [१०] चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, [११] असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, [१२] असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त, [१३] संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, [१४] संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त——जिन जीवोंका शरीर सूक्ष्म है, एक स्पर्शन ही इन्द्रिय तथा जो अपर्याप्त है, वे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं। ये समस्त लोकमें सर्वत्र व्याप रहे हैं। जहां कुछ भी नहीं दिखाई देता, ऐसे आकाशमें भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त ठसाठस भरे हुए हैं। ये जीव ५ प्रकारके हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति। चूंकि इन जीवोंका बादर शरीर नहीं है सो इनका शरीर दिख नहीं सकता। इनका उदय इसी प्रकारका है सो इनकी जाति ५ प्रकारकी है। अपर्याप्तोंमें भी प्रकार दो होते हैं——(१) निर्वृत्य पर्याप्त, (२) लब्ध्यपर्याप्त। जो पर्याप्त अवश्य होंगे, पर्याप्त होनेसे पहिले मरण नहीं कर सकते, वे निर्वृत्यपर्याप्त कहलाते हैं और जो पर्याप्त होंगे ही नहीं व अपर्याप्त अवस्थामें ही मरण करते हैं वे लब्ध्यपर्याप्त कहलाते हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त जीव एक सेकिण्डमें २३ बार जन्म मरण करते हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्त पर्याप्त हो

प्रमाद आ जावे तो उसके प्रमत्तविरत गुणस्थान हो जाता है।

अप्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती जीवके जब सातिशय परिणाम होता है तब वह अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। यदि उस सातिशय अप्रमत्तविरत मुनिने कर्मप्रकृतियोंके उपशम करनेका परिणाम प्रारम्भ किया तो उपशमश्रेणिके अपूर्वकरणगुणस्थान (८ वां गुणस्थान) में पहुंचता है और यदि क्षय करनेका परिणाम प्रारम्भ किया तो क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। सातवें गुणस्थानसे ऊपर दो श्रेणियां हैं—(१) उपशमश्रेणि, (२) क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणिमें तो ८वां, ९वां, १०वां व ११वां—ये चार गुणस्थान हैं और क्षपक श्रेणिमें ८वां, ९वां, १०वां व १२वां—ये चार गुणस्थान हैं। बारहवेंसे ऊपर भी क्षपक हैं, किन्तु १३ वें, १४ वें गुणस्थानके मुकाबिले कोई उपशमक होता ही नहीं। अतः प्रयोजन नहीं होनेसे श्रेणिसे ऊपर इन्हें कहा गया है।

अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीवके अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते रहते हैं, जिसके निमित्तसे कर्मोंकी स्थितिका घात होने लगता है, स्थितिबन्ध कम हो जाते है, बहुतसा अनुभाग (फलशक्ति) कर्मोंका नष्ट हो जाता है, कर्मस्कन्धोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है व खोटी प्रकृतियां शुभ प्रकृतियोंमें बदल जाती हैं।

अपूर्वकरणगुणस्थानके बाद जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुँचता है। इसमें अपूर्वकरणसे भी अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते हैं। उपशमश्रेणिके अपूर्व करणकरणवाला तो उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरणमें जाता है और क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरणवाला क्षपकश्रेणि के अनिवृत्तिकरणमें जाता है। उपशमक अनिवृत्तिकरण चारित्रबाधक २० कर्म प्रकृतियोंका उपशम करता है, सिर्फ एक सूक्ष्म संज्वलन लोभ बच जाता है और क्षपक अनिवृत्तिकरण इन २० कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है। इनके क्षयके अतिरिक्त अन्य कर्मसम्बन्धी १६ प्रकृतियोंका भी क्षय करता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके बाद जीव सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला तो उपशमश्रेणिके सूक्ष्मसाम्परायमें पहुंचता है और क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाला जीव क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमक सूक्ष्मसाम्पराय तो सूक्ष्मसंज्वलन लोभका उपशम कर देता है और क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवाला इस लोभका क्षय कर देता है। इस प्रकार चारित्रबाधक प्रकृति फिर नहीं रहती है।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके बाद जीव उपशमश्रेणिका हो तो उपशान्तक कषाय नामके ११ वें गुणस्थानमें जाता है। यदि क्षपक श्रेणिका हो तो क्षीणकषाय नाम १२ वें गुणस्थानमें जाता है। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव तो चारित्रमोहके उपशमके काल

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त--जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं व मन भी होता है, वे जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। इनका शरीर जब तक पर्याप्त नहीं होता अथवा जो जीव पर्याप्त हो ही नहीं सकते व अपर्याप्तमें ही मरण कर जाते हैं वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं। उक्त एकेन्द्रियादिक सभी अपर्याप्त दो दो प्रकारके होते हैं--जो पर्याप्त तो हो जायेंगे किन्तु अभी नहीं हैं वे कहलाते हैं निर्वृत्य पर्याप्त और जो पर्याप्त होंगे ही नहीं वे कहलाते हैं लब्ध्यपर्याप्त। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त देव व नरकगतिमें नहीं होते, केवल मनुष्य व तिर्यंच गतिमें ही होते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्त चारों गतियोंमें होते हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त–जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त हो चुके हैं, वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त कहलाते हैं। ऐसे जीव चारों गतियोंमें होते हैं। उनमें से मनुष्य तो साक्षात् कल्याण के पात्र हैं। उनके सम्यग्दर्शन अणुव्रत सर्व संयम व विशिष्ट तप भी हो सकते हैं, किन्तु तिर्यञ्चों (संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों) में सम्यग्दर्शन व अणुव्रत ही हो सकता है, देव व नारकियोंमें सम्यग्दर्शन ही हो सकता है।

सम्यग्दर्शन अथवा तत्त्वज्ञान हुए बिना सभी जीव बहुत दुःखी हैं। सम्यग्दर्शन आत्माके सहज स्वरूपकी प्रतीतिको कहते हैं। मनुष्यभवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी पूर्णता होती है। जो कि साक्षात् मोक्षका कारण है। हम लोग इस समय जिस स्थितिमें हैं वह स्थिति जगत्के अन्य जीवोंकी अपेक्षा बहुत ही अच्छी स्थिति है। यदि इस स्थितिका लाभ न ले पाया याने तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञानकी प्राप्ति न कर पाई तो यह बड़ी भूलकी बात है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्दिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके दुःखका तो कोई पार है ही नहीं, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंमें भी यदि दुःखपर दृष्टि दी जावे तो दुःख ही दुःख नजर आयेगा, केवलज्ञानी ही सुखी मिलेंगे। सो वे भवके कारण नहीं किन्तु आत्मावलम्बनके कारण सुखी हैं।

नारकी जीव तो अहर्निश असंख्य काल तक मार पीट घात आदिसे संक्लिष्ट रहते हैं, नरकभूमिकी शीत, उष्ण, क्षुधा, प्यास आदि अनेक पीड़ाओंसे दुःखी रहते हैं, आरामका वहाँ कोई रंच भी साधन नहीं है। पशु, पक्षी आदिकी दुर्दशा तो यहाँ भी दिखनेमें आती है। कोई पशु पाले भी जाते हैं तो उनसे जब तक किसीका स्वार्थ सधता है पूछ होती है, बादमें तो कोई पूछ होती भी नहीं। भूखे, प्यासे, रोगी, पीड़ितोंकी क्या दुर्दशा है वह छिपी नहीं, उल्टी मार पीट ही उनके भाग्यमें है। देवोंको मानसिक क्लेश बड़ा बना रहता है, क्योंकि पुण्योदयके कारण भूख, प्यास, ठंड, रोग आदिकी तो उनके चिन्ता है ही नहीं तो उस बेकारीमें अट्टसट्ट भाव प्रायः हो जाते, सो वे देव विषयतृष्णासे बड़े अपनेसे बड़े

जैसे गुरु शिष्यके उद्धारके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करता है अथवा माता पुत्रके सदाचारकी रक्षाके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करती है तो भी उन दोनों (गुरु माता) के अन्तरङ्गमें वैसा कषाय परिणाम नहीं है। इसी प्रकार व्यवहारयापनके लिये सम्यग्दृष्टि प्रमत्त जीव कदाचित् प्रयोजनवश क्रोधादि भी करता है तो भी उसके अन्तरङ्ग में वैसा कषाय परिणाम नहीं है, क्योंकि उसने तो उद्देश्य निजकल्याणका बनाया है।

जैसे माता बच्चेको सुधारकी चाहसे मारती भी है अथवा डाक्टर करुणाभावसे रोगीकी चिकित्सा करता है, आपरेशन करता है और दैववश रोगी मर जाता है तो माता या डाक्टर मारनेवाले नहीं कहलाते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी प्रत्येक जीवपर करुणाभाव रखता है। किसीके सुधारकी चाहसे उसका व्यवहार अन्य जीवको अरुचिकर लगे या बाधाकर लगे तो सम्यग्दृष्टि जीव कहीं घातक या बाधक नहीं हो जाता, वह तो परदयासे पूर्ण ही रहता है।

जैसे सेठका नौकरीके कारण सेठके बच्चेको खिलाता हुआ भी वह अन्तरङ्गसे उसका खिलानेवाला नहीं है। इसी प्रकार गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मनुष्य गृहाश्रमकी वृत्तिके कारण पुत्रादिकोंसे प्रेमपूर्ण वार्तालाप करता है, उन्हें खिलाता है तो भी वह अन्तरङ्गसे उनका खिलाने वाला नहीं है, क्योंकि उसका लक्ष्य तो स्वाधीन सहज आत्मीय आनन्दके लिये बना रहता है।

जैसे सेठका नौकर मुनीम दुकानको चलाता है, संभालता है, कोई लेनदेनवाला आवे तो उसे कहता भी है कि तेरे इतने दाम आये, मेरे इतने दाम तुमपर निकलते हैं, कोई लूटना चाहे तो उससे रक्षा भी करता है; इत्यादि अनेक प्रकरणोंमें मुनीम लगा हुआ है तो भी मुनीमके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह मेरी दुकान है, यह मेरा वैभव है इत्यादि। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि रागी मनुष्य घरके सब काम चलाता है, परिवारको संभालता है, व्यापार करता है, कोई आक्रामक आवे तो अपनी रक्षाके लिये प्रत्याक्रमण भी करता है, विवाद भी करता है, युद्ध भी करता है इत्यादि अनेक कार्योंमें वृत्ति करता है तो भी उस ज्ञानी मनुष्यके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह परिवार मेरा है, यह वैभव मेरा इत्यादि।

सम्यग्दृष्टि जीवका उद्देश्य विशुद्ध हो जानेके कारण उसकी सभी वृत्तियां अलौकिक होती हैं। ज्ञानीकी महिमा अपार है, सम्यक्त्वकी महिमा अपार है। कितनी बाह्य वृत्तियाँ अज्ञानियोंकी वृत्तियों जैसी मालूम पड़ती हैं, लेकिन वहाँ भी अन्तरङ्गमें ज्ञानीके अलौकिक वृत्ति हो रही है। लोकमें सम्यग्दृष्टि जीव ही वास्तवमें सुखी है। विपरीत अभिप्रायको छोड़ देने कोई संज्ञी जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

बाह्य पदार्थकी ओर आकृष्ट होकर विकल्प करता हुआ चेतता है तब यह आकुलित होता है। जब यह जीव यथार्थ भेदविज्ञान बलसे बाह्यसे हटकर अन्तर्ज्ञानरूपसे परिणमता है तब अनाकुल रहता है और जब सर्व पक्षरहित हो जानेके कारण निज अथवा पर कोई पदार्थ ज्ञानमें आवे ज्ञातामात्र रहनेके कारण वह अनाकुल रहता है। चेतनकी शक्तिकी इतनी महिमा है कि समस्त विश्व ज्ञानमें आ जावे, उसके अतिरिक्त इतनी शक्ति और बनी रहती है कि समस्त विश्व बराबर असंख्यात लोक भी यदि और हों तो उन्हें भी जानकर और को भी जाननेकी शक्ति रहे। चेतनका कार्य है कि जो कुछ हो व जो कुछ था व जो कुछ होगा सर्वको एक साथ जान ले। संसार अवस्थामें यद्यपि कर्मरूप द्रव्यावरणके निमित्तसे रागादि रूप भाव आवरण पड़ा है। अतः ज्ञानका विकास अल्प हो गया तो भी विकासका सर्वापहार नहीं हो सकता, इसका कारण चेतनका चैतन्य स्वभाव है।

चेतनाका सहजरूप परमोत्कृष्ट है। यह ही किसीकी दृष्टिसे ब्रह्मस्वरूप है, निर्विकल्प होनेके कारण एक है, सर्व सृष्टियोंका मूल आधार होनेसे स्रष्टा है, योगियोंका परमाराध्य है। इसकी दृष्टि न हो सकने वालोंकी स्वयं दुर्गति है, इसकी दृष्टि हो जाने वालोंकी स्वयं सद्गति है। जगत्के सभी दर्शनों (मतों) के आविर्भावकी साधनाका स्रोत यही है। परमानन्दका निधान यही है। इसीके अवलम्बनसे अनन्तज्ञानका आविर्भाव है। सत्य व शिवमय यही तत्व है। तात्पर्य यह है कि खुदकी वास्तविकताके परिज्ञानमें ही सर्व हित है और इस कारण भी चेतनकी महिमा अनुपम है।

सभी दार्शनिकोंने, सभी विद्वानोंने किसी न किसी रूपमें चेतनकी महिमा गाई है। किन्हींकी धारणा है कि सर्वप्रथम विश्वमें मात्र ईश्वर था, जल ही जल था। ईश्वरकी लीलामें भाव हुआ कि "एकोऽहं बहु स्याम, मैं एक हूं, बहुत हो जाऊँ, सो वह नाना रूपोंमें आने लगा। अन्तमें यह अपनी लीला संकोच कर एक स्वरूप हो जाता है।" इस वाक्यमें अलङ्कार द्वारा चेतनकी महिमा गाई गई है। यह चेतन अनादितः प्रथमसे ही बाह्यपदार्थको जाननेके विकल्पसे रहित होनेके कारण अति आवृत अवस्थामें एक था। था यह तब भी ऐश्वर्यशक्तियुक्त होनेसे ईश्वर, तब उसके निकट भवसागर ही था याने वह भवजलके क्लेश-तरङ्गोंमें बीच था। इसका कुछ विकास होनेको हुआ तब विशुद्ध परिणतिकी लीला हुई और निगोद भवसे निकलकर पशु पक्षी मनुष्य कीट आदि नाना रूप होने लगा। अनेक लीला करके यह चेतन जब स्वपर-पदार्थका यथार्थ श्रद्धान कर लेता है और आत्मस्वभावमें स्थिरता करके सर्व संगसे सर्वथा विमुक्त हो जाता है याने विभावलीला संकोच लेता है तब एक स्वरूप हो जाता है। इसमें आत्मासे परमात्मा होनेकी पद्धतिको अलंकृत भाषामें कहकर चेतनकी ही तो महिमा गाई गई है।

क्लेश हो रहा है। वह अन्य पदार्थ किसी भी नामसे पुकारो, जब तक उसका संसर्ग दूर नहीं होता तब तक क्लेशका अत्यन्त अभाव नहीं होता। यह पदार्थ कर्म नामसे अति प्रसिद्ध है। सीधे शब्दोंमें यह कह दिया जाता है कि जब तक कर्मका अभाव नहीं होता तब तक क्लेश का सर्वथा अभाव नहीं होता। कर्म आत्मासे अन्य याने भिन्न पदार्थ है। पदार्थकी भिन्नता या अन्यता तभी कायम रहती है जब कि यह नियम रहता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका परिणमन नहीं करता। यह बात आत्मा व कर्ममें भी है। आत्मा कर्मका विधान, अभाव नहीं कर सकता, कर्म आत्माका विधान, अभाव नहीं कर सकता, किन्तु इनमें निमित्तनैमित्तिकता अवश्य है कि आत्माके रागादिभावको निमित्त पाकर कर्मका बन्ध होता और उस कर्मके उदयका निमित्त पाकर आत्मा रागादिविभावमलिन हो जाता।

अब यहाँ यह विचार करना है कि कर्मका अभाव कैसे हो? समाधान—आत्माके ऐसे परिणाम बने कि जिनका निमित्त पाकर कर्म स्वयं अकर्मरूप परिणम जावें। वे आत्मा के परिणाम कौन हैं? इसका समाधान इस दृष्टि हो जायगा कि यह जानते जावें कि कर्मका बन्ध कैसे परिणमनोंको निमित्त पाकर होता है? जैसे परिणमनोंका निमित्त पाकर कर्म बन्ध होता है उनसे उल्टे अर्थात् उल्टेसे उल्टे (सीधे) परिणामोंसे कर्मका अभाव होता है। कर्मबन्धका कारण विरुद्ध भाव है याने स्वभावसे विपरीत भावोंके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है। राग द्वेष, मोह भाव—ये विरुद्ध भाव है। ये ही कर्मबन्धके कारण हैं। तात्पर्य यह है कि स्नेह करना, विरोध करना, मोह करना—ये भाव कर्मबन्धके कारण हैं। इनमें भी विशेषतया अथवा मूलभूत कारण मोह करना है। मोह अज्ञानको कहते हैं। यद्यपि मोहकी प्रसिद्धि रागमें है सो वह यों प्रसिद्ध हो गया कि अज्ञानके होते हुए राग विशेष होता अथवा मालूम रता है, वहाँ त्वरित समझमें आने वाले रागकी दृष्टिमें अज्ञानकी कल्पना गौण कर दी जाती है, सो यद्यपि प्रसिद्धी मोहकी रागमें हो गई तथापि सूक्ष्म विश्लेषण करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोह अज्ञानको याने अनेक पदार्थोंमें सम्बन्धकी बुद्धि करनेको कहते हैं। मोह, अज्ञान, अविवेक, मिथ्या, भ्रम, विपर्यय ये सब प्रायः एकार्थवाचक हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि जो जैसे पदार्थ हैं उन्हें वैसा न समझकर उल्टे स्वरूपमें उनका ग्रहण करना मोह है और यही क्लेशका कारण है और जो जैसे पदार्थ हैं उन्हें वैसा समझकर मात्र ज्ञाता रहना विवेक है और यही क्लेशसे मुक्त होनेका उपाय है। दुःखोंसे छूटना एक सत्य ज्ञानपर ही निर्भर है। भगवद्भक्ति भी कितनी ही की जावे, यदि अर्थो (पदार्थो) का सत्यज्ञान नहीं है तो प्रथम तो यह बात है कि उसने भगवान् ही नहीं समझ पाया, भक्ति ही कहाँ हुई? दूसरे यह बात है कि यथार्थ ज्ञानके अभावमें अन्तरमें जब अंधेरा है तो भगवद्भक्ति क्लेशसे कैसे छुटा देगी? इसी प्रकार तपस्या कितनी ही की

जब यहाँ पुरुषोंके ज्ञान भी इस कलासे सहित देखे जाते हैं कि वे भूत पर्यायको अक्सर जान रहे हैं और वर्तमान पर्यायको जानते हैं, साथ ही यह भी कला है कि भविष्यके पर्यायोंको भी जानते हैं। यह बात दूसरी है कि किसीका ज्ञान मिथ्या होता है, किसीका ज्ञान सम्यक् होता है, किन्तु कला तो भूत, भविष्यको भी जाननेकी है। फिर जो ज्ञान सर्व आवरणोंसे दूर हो गया, वह भूत, भविष्यको न जान सके, यह कैसे हो सकता है? प्रत्युत वह पूर्ण निरावरण ज्ञान अनन्त भूत व भविष्यको जानता है अथवा जो जो भी ज्ञेय है वह सब केवलज्ञानका विषय हो जाता है। केवलज्ञान तो सबको जानता है, चाहे वह स्थूल विषय हो, चाहे सूक्ष्म विषय हो। बहुप्रदेशी, एकप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त, भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब ही ज्ञेयको केवलज्ञान जानता है। केवलज्ञानका परिणमन तो समस्त अर्थोंके साक्षात्कार (ज्ञेयाकाररूप) है। अतः यदि यहाँ कोई शंका करे कि केवलज्ञानी सबको नहीं जानता तो यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी खुदके एकको भी नहीं जानता है और चूंकि निश्चयसे केवलज्ञानी बाह्य अर्थको जानते नहीं है, व्यवहारसे बाह्य अर्थको जानते हैं और कोई यदि शंका करे कि केवलज्ञानी खुदके एकको नहीं जानता, बाह्य सब अर्थको ही जानता है तो यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी बाह्य किसी भी अर्थको नहीं जानता। यहाँ तो यह देखा जा रहा है कि यदि सबको नहीं जानता तो एकको भी नहीं जानता और एकको नहीं जानता तो सबको नहीं जानता।

केवलज्ञान केवल आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। ज्ञान तो वैसे सभी आत्माके ही आश्रयसे प्रकट होते हैं, किन्तु उन ज्ञानोंमें से कितने ही ज्ञान तो उत्पत्तिमें इन्द्रिय या मनके बहिरङ्गसाधनकी अपेक्षा रखते है और कितने ही ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अवधि लेकर प्रकट होते हैं, उन सबसे विलक्षण यह केवलज्ञान है जो कि असहाय और अनवधि है। केवलज्ञान पहिले तो सशरीर अवस्थामें परमात्माके होता है, बादमें वे ही परमात्मा शरीरमुक्त हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रवर्तता ही रहता है। जब सशरीर परमात्मा हैं तब भी यह केवलज्ञान मन, इन्द्रिय, उपदेश, संस्कार, प्रकाश आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता है और न शरीररहित अवस्थामें ही किसीकी अपेक्षा करता है—केवल आत्मासे ही होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, प्रत्यक्षमें भी सकल-प्रत्यक्षज्ञान है। इतना ही नहीं, किन्तु सहज निरुपाधि आनन्दका साधनीभूत होनेसे यह केवलज्ञान महाप्रत्यक्ष कहा जाना चाहिये, क्योंकि यह केवलज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है, परिपूर्ण, समस्त ज्ञेयोंको जानता है, अत्यन्त निर्मल है, इस ज्ञानमें कोई क्रम नहीं है कि पहिले अस्पष्ट जाने, पीछे स्पष्ट जाने। जो ज्ञान ऐसा है उसमें आकुलताका स्थान ही कहाँ? जो उत्पत्तिमें पराधीन हो, अपूर्ण हो, कुछ ही ज्ञेयोंको जाने, सकलङ्क हो, क्रम क्रमसे स्पष्ट जाने, ऐसे ज्ञानके साथ ही आकुलताका निवास है।

आपमें परिणम रहा है। जीव व पुद्गलोंके एक समुदायको नारक, पशु, पक्षी, कीट, देव, मनुष्य आदि कहते हैं। उन सब भवोंमें जीव जीव ही है, पुद्गल पुद्गल ही है। प्रति एक द्रव्य अन्य समस्त द्रव्योंसे बिल्कुल भिन्न है। अतः किसी द्रव्यका किसी अन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे स्वतन्त्र स्वरूप रूपमें पदार्थों की प्रतीति रहे, निज आत्माकी प्रतीति रहे तो आकुलताका कोई कारण नहीं रहता। क्लेश मुक्तिका उपाय सम्यग्ज्ञान है, ज्ञान-भावना है, ज्ञानोपासना है। ज्ञानकी चर्चा, आराधना सर्व ऋषियोंने मङ्गलमय माना है। "नर्ते ज्ञानान्मुक्तिः" इस उक्तिमें ज्ञानको ही मुक्तिका कारण प्रसिद्ध किया है। "सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रमें ज्ञानको ही मुक्तिका कारण प्रसिद्ध किया है। आत्मीय निरपेक्ष ऋत ही ब्रह्म है अर्थात् प्रकृति व प्रकृतिज चिदाभास (अविद्या, राग, द्वेष आदि) से भिन्न सर्वात्माओंमें समान त्रिकालव्यापी चैतन्य तत्त्व ही ब्रह्मस्वरूप है। उसके ज्ञानसे ही आवरण व मल नष्ट होते हैं। इस ही ध्येयकी एकाग्रताको अथवा इस ध्येयके दृढ़तर हो जानेपर जिस किसी भी पदार्थके सत्यस्वरूपसे ध्यानकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं। समाधि ही प्रवर्द्धमान होकर निर्वाणका साक्षात् कारण है। इस तरह ज्ञान और समाधि क्लेशमुक्तिका उपाय है। समाधि ज्ञाततत्त्वके पूर्ण विश्वास हुए बिना नहीं बनती। अतः समाधिमें सम्यग् विश्वास अन्तर्निहित है। इस तरह सम्यग्विश्वास सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र ही मोक्षमार्ग अथवा क्लेशमुक्तिका उपाय है।

मोहमें जीवको क्लेशसे छूटनेका वह उपाय सूझता है, जो क्लेशको बढ़ाने व पैदा करनेका उपाय है। जैसे एक निर्बल बालक जिसको गाली देनेकी बान पड़ी है, वह किसी बलिष्ठ बालकके द्वारा तमाचा लगाये जानेपर उस पिटाईसे होने वाले दुःखको न सह सकने के कारण उस दुःखको दूर करनेकी इच्छासे बलिष्ठको गाली देता है। तब बलिष्ठ बालक पुनः तमाचा मारता है वह फिर गाली देता है। इस तरह पिटाई चलती रहती है। जब निर्बल बालकको अक्ल आती है कि गाली देनेसे क्लेश ही बढ़ रहा है, मिट नहीं रहा है और इस सुबुद्धिके कारण गाली देना बन्द कर देता है तो पिटाईका क्लेश भी मिट जाता है। इसी प्रकार यह मोही आत्मा जिसे राग संस्कार व रागकी योग्यता पड़ी हुई है, वह कर्मोदयवश उपद्रवके बीचमें आनेपर या इष्ट संयोग होनेपर होने वाली आकुलताके क्लेशको दूर करनेके लिये द्वेष अथवा राग करता है। परिणाम यह होता है कि कर्मबन्ध, संस्कार व आकुलता का वातावरण चलता ही रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि क्लेश मुक्तिका उपाय है, यह रागादिभाव नहीं है। ये विभाव मिथ्या श्रद्धानपूर्वक हुए हैं। अतः इस विपरीत उपायमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र आ ही गये। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र क्लेशमुक्तिके उपाय नहीं हैं प्रत्युत क्लेशवृद्धिके उपाय हैं। क्लेश-

तत्त्वका विरोध करे या अन्य तत्त्वको मिथ्या कहे तो वह हठवाद कहलाता है और यदि अन्य तत्त्वोंका, धर्मोंका, गुणोंका, अंशोंका विरोध न करके वर्तमानमें अथवा प्रयोजन वश किसी अंशको जाने, देखे, कहे तो वह दृष्टिवाद कहलाता है। चूँकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और बुद्धिपूर्वक जानना या कहना एक समयमें कुछ धर्मोंका ही हो सकता है। अतः दृष्टिवादका आना प्राकृतिक बात है। इस दृष्टिवादका उपयोग होना प्रत्येक मनुष्योंके अनिवार्य है। सभी अपना व्यवहार एवं प्रवर्तन दृष्टिवाद द्वारा करते हैं। एक ही पुरुषको कोई पिता के रूपमें देखता, कोई पुत्रके रूपमें अथवा भिन्न प्रकरणोंमें, अवसरोंमें, समयोंमें भिन्न भिन्नरूपसे देखता है, यह दृष्टिवादका ही तो उपयोग है। दृष्टिवाद, अपेक्षावाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि पर्यायवाची शब्द हैं। दृष्टिवाद द्वारा यथासंभव सभी दृष्टियोंका संग्रह करके क्रमशः पूर्ण जाने और फिर सभी दृष्टियोंका त्याग करके एक साथ ज्ञानभावके द्वारा पूर्ण जाने, यही वस्तुज्ञानके करने की सुगम पद्धति है।

दृष्टिवादमें संशय या अनिर्णयको स्थान नहीं है, क्योंकि अपेक्षा रखकर जो धर्म जाना उसका पूर्ण निश्चय रहता है। जैसे रामका पुत्र श्याम, श्यामका पुत्र धाम, इनमें बोला जाय कि धामका श्याम पिता ही है तो इसमें निश्चय ही संशय नहीं रहा व कहा जाय कि रामका श्याम पुत्र ही है तो निश्चय ही रहा। यदि कहा जाय कि रामका श्याम पुत्र भी है तो यह प्रयोग गलत है क्योंकि रामका तो पुत्र ही है और कुछ नहीं इत्यादि। इसी प्रकार कहा जायगा कि द्रव्य दृष्टिसे आत्मा नित्य ही है, यहाँ कुछ भी संशय नहीं है। पर्याय दृष्टिसे आत्मा अनित्य ही है यह निश्चय ही है। यदि कहा जाय कि द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य भी है तो यह है गलत प्रयोग, क्योंकि इसमें यह भी सिद्ध होगा कि द्रव्यदृष्टि से अनित्य भी है सो तो है नहीं। अतः दृष्टिवाद निश्चयवाद ही है, संशयवाद बिल्कुल नहीं है। दृष्टियां दो प्रकारसे प्रवृत्त होती हैं—(१) अभेदरूपसे जानते हुएमें, (२) भेदरूपसे जानते हुएमें। जैसे अभेदरूपसे अखण्ड वस्तुको जाना व भेदरूपसे वस्तुके गुणोंको, शक्तियोंको, परिणमनोंको जाना।

दृष्टियां इस प्रकार भी दो तरहसे प्रवृत्त होती हैं—(१) एक ही वस्तुके विषयमें जानना, (२) अनेक वस्तुओंको परस्पर किसी भी सम्बन्धरूपमें जानना। इनमें से पहिली पद्धतिकी दृष्टिको तो निश्चयनय कहते हैं और दूसरी पद्धतिकी दृष्टिको व्यवहारनय कहते हैं। अतः इनको इस प्रकार लक्षणोंमें बांधा जाता है कि जो वस्तुको अभेदरूपसे जाने अथवा एक ही वस्तुके विषयमें जाने उसे तो निश्चयनय कहते हैं और जो वस्तुको भेदरूपसे जाने अथवा अनेक वस्तुओंको किसी भी सम्बन्धरूपमें जाने, उसे व्यवहारनय कहते हैं। निश्चयनय व व्यवहारनयका यथा योग्य व्यापक क्षेत्र होनेसे जो तत्त्व व्यवहारनयका विषय

उपयोग नहीं रहता तो भी निर्णयके लिये पहिले दृष्टियोंका सहारा लेना आवश्यक ही है। दर्शनशास्त्रोंके सिद्धान्तोंको परखने व परिचित करनेके लिये मुख्य दृष्टियाँ दो रहती हैं—एक तो वस्तुके स्वभावको देखना, दूसरे वस्तुके परिणमनको देखना। प्रत्येक वस्तुमें स्वभाव व परिणमन दोनों हुआ ही करते हैं। इनमें स्वभाव तो ध्रुव व अविशेष होता है और परिणमन अध्रुव व विशेषरूप होता है। वस्तु और उसका स्वभाव कहीं अलग-अलग चीज नहीं हैं; स्वभाव व वस्तु (स्वभाववान) का भेद करके वस्तुका परिचय कराया जाता है। इसी प्रकार वस्तु व उसका परिणमन उस परिणमनकालमें अलग-अलग कुछ नहीं है; किन्तु वस्तु किसी न किसी दशामें अवश्य रहती ही है, सो उस दशा (परिणमन) द्वारा वस्तुका परिचय कराया जाता है।

इस प्रकार वस्तुस्वभाव व परिणमन दो दृष्टियोंसे देखा जाता है। इनमेंसे स्वभावदृष्टिसे देखा जाता है तो पदार्थ ध्रुव, नित्य, एकरूप, अपरिणामी, अविशेष आदि रूपोंमें देखा जाता है तथा परिणामदृष्टिसे देखा जाता है तो पदार्थ अध्रुव, अनित्य, नानारूप, परिणामी, विशेष रूप आदि रूपोंमें देखा जाता है। स्वभावदृष्टिको द्रव्यार्थिकदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि, सत्यार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि आदि कहते हैं व परिणमनदृष्टिको पर्यायार्थिकदृष्टि, व्यवहारदृष्टि, अपरमार्थदृष्टि, असत्यार्थदृष्टि, अभूतार्थदृष्टि आदि कहते हैं।

...०...

विश्वव्यवस्था

विश्वका अर्थ समस्त है। सबके अतिरिक्त जगत् अथवा विश्व कुछ नहीं। इसी कारण विश्व जगत्का अर्थात् लोकका नाम भी पड़ गया। इस विश्वकी व्यवस्था कैसे चलती है, इस प्रश्नका भाव है कि समस्त पदार्थोंकी व्यवस्था कैसे चलती है? इसका समाधान पानेके लिये समस्त पदार्थ कितने हैं, यह पहिले जानना चाहिये। इसका विवरण 'विश्वके पदार्थ' नामक दूसरे अध्यायमें कुछ किया है। समस्त पदार्थ अनन्तानन्त हैं—अनन्तानन्त जीव पदार्थ, अनन्तानन्त पुद्गल पदार्थ, एक धर्मपदार्थ, एक अधर्म पदार्थ, एक आकाश पदार्थ असंख्यात काल पदार्थ, प्रत्येक पदार्थ स्वतःसिद्ध है क्योंकि वह है। असत्का कभी किसी रूपमें भी उत्पाद नहीं हो सकता और न सत् हो सकता। विना ही किसी पूर्वरूपके रूपान्तर किस आधारपर हो? अतः प्रत्येक पदार्थ स्वतःसिद्ध है। जो स्वतःसिद्ध होता वह अनादिसे होता व अनन्तकाल तक रहने वाला होता है। जो सत् है वह परिणमनशील होता है क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं होता, जिसमें दशा कोई भी न हो और हो। अतः प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। कोई भी परिणमन पदार्थमें एक समयसे अधिक नहीं रहता, क्योंकि पदार्थ परिणमनशील है। पदार्थ अपनी शक्तियोंका ही परिणमन करता है, दूसरे पदार्थकी शक्तियों

पूर्ण ज्ञान है। उसकी सहज लीलामें ही विश्व प्रतिभासित हो जाता है, फिर भी केवलज्ञानके साथ अनन्त आनन्दका अन्वय है। केवलज्ञानी निजानन्द रसलीन रहते हैं।

आत्माके अनन्त गुणोंमें से एक प्रधान गुण ज्ञानगुण है। उस ज्ञानगुणका पूर्ण शुद्ध परिणमन केवलज्ञान है। केवलज्ञान आत्माका स्वभावपर्याय है अर्थात् बाधकभूत अन्तरङ्ग व बहिरंग साधन न हों तो परिपूर्ण ज्ञानविकासरूप केवलज्ञान पर्याय ही प्रगट होती है। केवल ज्ञानके बाधक बहिरंगसाधन ज्ञानावरणका उदय है। बाधक बहिरंग सहायकसाधन मोहनीय कर्मका उदय है। अन्तरंगबाधक साधन परके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञानोपयोग है, वास्तविक बाधक यही परलक्ष्योपयोग है। त्रैकालिक चैतन्यस्वरूपमय निज आत्मतत्त्वका आश्रय उपयोग करे तो निर्मल ज्ञानोपयोग विकसित हो होकर केवलज्ञानपर्याय प्रकट होती है। परवस्तुका आश्रय करके होनेवाला उपयोग केवलज्ञानका मुख्य बाधक है और परवस्तुके आश्रय करके होनेवाले उपयोगमें आत्मबुद्धिका होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है। भेदरूपमें गुण पर्यायके ग्रहणरूपसे निज आत्मतत्त्वके बारेमें भी होनेवाला उपयोग और उस उपयोगमें आत्मबुद्धि होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है।

आत्माके लिये सारभूत, हितरूप, आनन्दकर उपयोग केवलज्ञान ही है। केवलज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी अथवा आत्माकी पूर्ण शुद्ध परिणति है। केवलज्ञान होते ही आत्मा परमात्मा हो जाता है। केवलज्ञान प्रत्येक आत्माका स्वभावभाव है अर्थात् प्रत्येक आत्मामें केवलज्ञान होनेकी शक्ति है। केवलज्ञान ही हित है, इसमें सब प्रकारके क्लेश समाप्त होकर सहज आनन्द एवं परिपूर्ण आनन्द प्रकट हो जाता है। केवलज्ञान जिस विधिसे प्रकट होता है वह विधि स्वाधीन है। वह विधि है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण करके उपयोगका शुद्धस्वभावका विषय करनेवाला होगा। यह ज्ञान द्वारा साध्य है। इस ज्ञानपयोग रूप वर्तनेके लिये भेदविज्ञान साधन है। भेदविज्ञान! जयवंत होहु, शुद्धपयोग! जयवंत होहु, केवलज्ञान! जयवंत होहु।

सकलपरमात्मा

जब कोई साधु अन्तरंग बहिरंग समस्त परिग्रहके त्यागके बलसे और निरपेक्ष शुद्ध निज कारणसमयसारके अवलम्बनसे सर्वप्रकारके मोहसन्तानसे अत्यन्त पृथक् हो जाता है, किसी भी कषायका मूल नहीं रहता है। उसके अनन्तर शीघ्र ही अनन्तज्ञानी अनन्तदर्शी, अनन्तानन्दी, अनन्तशक्तिमान् परमात्मा हो जाता है। इस परमात्मदेवका जब तक शरीर के एकक्षेत्रावगाहमें वास है तब तक यह सकलपरमात्मा कहलाता है। शरीर तो पहिलेसे

अपने आपमें स्वभावपरिणमन करते रहते हैं। ये केवल गति, स्थिति, अवगाह व परिणमन में निमित्तमात्र कारण होते हैं।

इस तरह समस्त पदार्थोंकी व्यवस्थाके मुख्य ३ कारण हैं--(१) प्रत्येक वस्तुका परिणमनशील स्वभाव होता, (२) प्रत्येक वस्तुका अपने आपमें ही परिणमना अन्यमें नहीं परिणमना व (३) निमित्तनैमित्तिक भावका होना। यदि अन्य दूसरेके कारण पदार्थका उत्पाद नाश होता तो सदा गड़बड़ियां रहतीं व अन्ततोगत्वा सर्वाभाव हो जाता।

प्रत्येक द्रव्य स्वतः सिद्ध है, स्वयं परिणमनशील है, परको निमित्त पाकर स्वयं निज की योग्यताके अनुकुल परिणम जाना वस्तुकी स्वयंकी कला है। जीव भी स्वतः सिद्ध है, स्वयं परिणमनशील है, परको निमित्त पाकर स्वयं निजकी योग्यताके अनुकूल परिणम जाना जीवकी कला है। पुद्गल आदि प्रत्येक द्रव्योंकी यही व्यवस्था है। कालद्रव्य ही एक ऐसा द्रव्य है जिसके परिणमनमें अन्य द्रव्य कोई निमित्त नहीं होता। शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्यके परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त है। जीव व पुद्गलके विकारपरिणमनमें कर्म निमित्त है व बाह्य वस्तु आश्रयभूत हैं। विकारपरिणमनके निमित्तभूत आश्रयभूत बाह्य कारणोंके अभावमें पदार्थ स्वभावके अनुरूप परिणमता है।

इस तरह वैज्ञानिक आधारपर विश्वकी व्यवस्थाकी यह पद्धति है। सबके कार्यके उपादान कारण वे ही सब हैं। यदि उन सबको संग्रहनयसे देखा जाय तो सब सत् स्वरूप ही हैं। इस सामान्य दृष्टिमें वैयक्तिक धारणा नहीं रहती है अतः एक सत्रूप हैं। इस साधारण (सामान्य) स्वभावको मद्दे नजर रखकर "सबके परिणमनका कारण क्या है" इस प्रश्नका समाधान किया जावे तो यह कहा जा सकता है कि एक सत्स्वरूप तत्त्व है, यही सत्स्वरूप तत्त्व ब्रह्म, अद्वैत आदि अनेक शब्दोंसे वाच्य होता है, जिससे यह भी कहा जा सकता है कि सबकी उत्पत्तिका कारण सत् या ब्रह्म है।

वैदिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

वैदिक कालमें सरल पुरुषोंकी अधिकता थी। उनका पोषण जिन तत्त्वों व शक्तियों से होता था वे उनके ध्यानमें सर्वस्व हो जाते थे। यही कारण है कि पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, सूर्य आदिकी देवताओंके रूपमें, साक्षात् व अलंकार भाषामें स्तुतियां रची गईं। लोकहितकी दृष्टिसे ऐसा ध्यान करना किसी सीमा तक उचित कहा जा सकता है तथा धर्मपद्धति से इन मंत्रोच्चारणादि क्रियाओंके प्रयोगमें अनेक विषयवासनाओंसे विराम पाया जा सकता है, अतएव इन सब कर्म-काण्डोंको धर्मरूपमें अभ्युदय हुआ।

वेदके ४ भाग हैं-(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, (४) अथर्ववेद। ऋग्वेद

व ज्ञानियोंमें वात्सल्य रखनेकी भावनाको प्रवचनवत्सलत्व कहते हैं।

इन भावनाओंमें मुख्य दर्शनविशुद्धि है। दर्शनविशुद्धि तो अवश्य ही होनी चाहिये। अन्य १५ भावनाओंमें कोई कम भी रह जाय तो भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध हो सकता है। जिनके पहिले भवमें तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध गई, वे देवगतिमें जन्म लेते हैं और देवगतिसे च्युत होकर मनुष्यभवमें तीर्थङ्कर होकर निर्वाण पाते हैं। यदि किसी जीवने पहिले नरकायु बाँध ली हो और बादमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध कर लिया जाय तो वह नरकगतिमें जन्म लेगा। वहाँसे निकलकर मनुष्यभवमें तीर्थंकर होता है। तीर्थंकरोंके गर्भमें आनेसे ६ माह पहिलेसे व ९ माह गर्भकाल तक याने १५ माह तक तीर्थंकरके माता पिताके घर रत्नवृष्टि होती है। जन्म होनेपर इन्द्रदेव आते हैं और बड़े उत्साहके साथ तीर्थंकर बालकको मेरुपर्वत पर ले जाते हैं और क्षीर सागरके जलसे अभिषेक करते हैं, स्तुति कर माता पिताके घर लाकर उन्हें सौंप देते हैं। तीर्थंकरके वैराग्यके समय इन्द्रदेव कल्याणक करते हैं। केवलज्ञान उपजनेपर भी देव इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। निर्वाणके समय भी देव व इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। इस तरह पञ्चकल्याण मनाये जाते हैं। तीर्थंकर भगवान्की सभा समवशरणके रूपमें होती है।

तीर्थङ्कर देवके जन्मसे ही अनेक शरीरातिशय होते हैं। सामान्यकेवली होनेवाले महापुरुषोंके जन्मसे ही उनमें से कुछ कम भी होते हैं, उनमें कुछ आवश्यक ही हैं। सकल-परमात्माकी दुनियाके लिये सन्मार्गोपदेश देन है।

गत वर्तमानकालमें श्री ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनि-सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व व महावीर-ये २४ तीर्थंकर हुए हैं और भरत, बाहुबलि, राम, हनुमान, सुग्रीव, सुकौशल, प्रद्युम्न आदि अनेक कोटाकोटि सामान्यकेवली हुए हैं।

सकलपरमात्माका आत्मा व यहाँ हम लोगोंका आत्मा द्रव्यदृष्टिसे एक समान है। चेतनपदार्थ सकलपरमात्मा है, सो चेतनपदार्थ यहां हममें भी है। गुण (शक्ति) की अपेक्षा भी देखा जाय तो सकलपरमात्मा व हम एक समान हैं। चेतनद्रव्यमें जितने गुण होते हैं उतने ही तो सकलपरमात्माकी आत्मामें हैं और उतने ही हम लोगोंकी आत्मामें हैं। अन्तर केवल परिणमनकी अपेक्षासे है। सकलपरमात्मा वीतराग व सर्वज्ञ हैं; किन्तु हम सराग एवं अल्पज्ञ हैं। सकलपरमात्मा की आत्मा भी पहिले हम जैसी थी, किन्तु क्षयोपशमलब्धि-वश बढ़ती हुई विशुद्धिके प्रतापसे ऐसी स्थिति पाई कि उपदेश विवेकका ग्रहण किया और उसमें जो तत्त्व जाना उसका मनन किया, जिसके प्रतापसे विशेष विशुद्धि हुई। विशुद्धिके उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेपर सम्यग्दर्शन, संयम, विशिष्ट ध्यान आदि होते गये, जिसके

ाशुहिंसा आदि करना दोष नहीं है, किन्तु ऐसा ख्याल छोड़ देनेमें लाभ है। कारण यह है के शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं तथा कभी उपमानके स्थानपर उपमेयका भी प्रयोग कर दिया गाता है, इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इन्द्रियोंको, मनको, विकल्पोंको घातो याने वश करो इत्यादि। हिंसाके भावको छोड़कर फिर वेदोंके वाच्यपर दृष्टि हो जावे तो इससे नीति, रीति व उपकारक निमित्तोंका ज्ञान आदि व्यवहारिक अनेक बातोंका इससे बोध मिलता है।

...o...

ई ई मजहबसे प्र प्तव्य शिक्षा

अबसे करीब १६०० वर्ष पहिले ··· देशमें किसी कुमारी कन्याके गर्भसे ईशुजी उत्पन्न हुए थे। उन्होंने भारतमें भी आकर कुछ समय अध्यात्म शिक्षा प्राप्त की थी। अहिंसा, न्याय व सत्यके प्रचारके लिये हठात्मक, बलात्मक, सत्याग्रहात्मक, प्रेमात्मक पद्धतियोंसे महान् परिश्रम किया था। इन्हीं आन्दोलनोंके फलस्वरूप कुछ शक्तिमान् पुरुषोंके प्रयोगसे उनकी मृत्यु भी हुई थी। उन ईशुके निर्देशनके अनुसार सेवाभावका आज भी प्रचार ईसाई महानुभावोंमें है। उनका जीवन दूसरोंकी सेवाके लिये है, यही ईसाई मजहबका मुख्य सिद्धान्त है। कोई अपने प्रतिकूल कैसा भी व्यवहार करे उसकी तो सेवा ही यथाशक्ति करनेका प्रकाश यहां मिलता है। इस मजहबसे व ईसाई समाजके साधुप्रकृतिक लोगोंसे यह शिक्षा लेना चाहिये कि 'हम अपनी शक्तिभर दूसरोंकी सेवा करें व किसीके द्वारा कोई कुछ उपद्रव भी आवे तो भी उसको क्षमा करके उसकी सेवा करें।'

ईसाई मतानुयायियोंमें प्रायः माँसभक्षणकी प्रवृत्ति देखकर कुछ लोग समझने लगे हैं कि मनुष्यको छोड़कर अन्य प्राणियोंकी हिंसा करना दोषकर नहीं है, किन्तु उनका ऐसा समझना ठीक नहीं है। कारण कि—ईशुकी शिक्षामें पशु, पक्षी आदि सबकी रक्षा करनेका उपदेश है। हिंसा करना धर्म कभी हो ही नहीं सकता। इससे तो सभी प्राणियोंकी सेवा करनेकी शिक्षा लेनी चाहिये। ईशुके उपदेशोंमें यह भी कहा गया है कि यदि कोई तुम्हारे गालपर तमाचा मारता है तो तुम दूसरा तमाचा भी झेलनेके लिये अपना दूसरा गाल उसके सामने कर दो। इसका भाव यह है कि विरोधीपर भी रोष मत लावो।

...o...

मुस्लिम मजहबसे प्राप्तव्य शिक्षा

अबसे करीब १३०० वर्ष पहिले अरब देशमें मुहम्मदजी हो गये हैं। ये किसी भी कार्यके लिये क्रान्तिका आदर अधिक करते थे। बाल्यकालसे ही संगठनकी ओर ध्यान गया। किन्हीं बातोंमें तो अपनी माता जी से विसंवाद कर बैठते थे। सुना है कि अरब देशमें एक

उपाधि व आधारके आधारका अब कर्मरूप उपाधि व शरीररूप आधार नष्ट हो गया, अब आत्मप्रदेशोंके संकोच व विस्तारका कोई कारण नहीं रहा, फिर कैसे फैल जावें और कैसे वटवीजादि प्रमाण हो जावें, अतः जिस आकारसे मुक्त हुए उसी आकार प्रमाण रहते हैं। आत्माका स्वभावतः कोई आकार नहीं है और न स्वभावतः आकारकी वृद्धि हानि है, किन्तु जैसे मूसमें मोम भरा था, अब प्रयोगसे मोम गल जाता है तो मूसका या आभूषणमें के पोलका आकार वही रह जाता है, जो मूसका था। इसी प्रकार कर्ममल गल जाने (नष्ट हो जाने) पर व शरीरसे भी मुक्त हो जानेपर मुक्त आत्माके प्रदेशोंका आकार वही रह जाता है, जिस प्रमाण पहिले थे।

निकलपरमात्मामें सकलपरमात्माकी भांति क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तवीर्य आदि तो हैं ही, साथ ही शरीर व अवशिष्ट कर्मोंसे मुक्त हो जानेके कारण अगुरुलघु, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अव्यावाधत्व आदि भी प्रकट हो जाते हैं। निकलपरमात्मामें शरीरका सम्वन्ध न होनेसे तथा व्यावहारिकता न होनेसे निकलपरमात्मा का ध्यान निज शुद्धस्वरूपके ध्यानके लिये विशेषाधिक सहायक है। निकलपरमात्माका स्वरूप और चेतनके सहज स्वभावका स्वरूप एक समान शव्दोंसे विशेपित है। जैसे निकलपरमात्मा विराग हैं तो सहज चैतन्य स्वरूप भी विराग है। इसी तरह सनातन, शान्त, निरंश, निरामय आदि अनेक विशेषण सहजचैतन्यस्वरूपमें भी घटित होते हैं।

निकलपरमात्मा मुक्त होते ही लोकमें सर्वोपरि लोकके शिखरपर पहुंच जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका यह कारण है कि आत्मामें उद्र्ध्वगमनका स्वभाव है। कर्मोंसे व शरीरसे मुक्त होनेपर एक ही समयमें उद्र्ध्वगति स्वभावसे जाकर वहाँ विराजमान रह जाते हैं, जिससे ऊपर लोक है ही नहीं। सिद्ध प्रभु लोकके ऊपर विराजमान हैं, इसे अनुभव भी कहता है। भक्त जीवोंकी प्रभुके सम्वन्धमें दृष्टि देनेका भाव होनेपर ऊपर ही चितारते हैं। इससे भी यही सिद्ध है कि सिद्ध भगवान् लोकके ऊपर विराजमान रहते हैं। लोकके वाहर भी ऊपर क्यों नहीं चले जाते? इसका समाधान यह है कि जीवकी गतिमें निमित्तकारण धर्मास्तिकाय है। आगे धर्मास्तिकाय न होनेसे लोकके ऊपर परमात्माका गमन नहीं होता है। ऐसा ही इसमें सहज निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध है।

सिद्ध आत्माओंका संसारमें पुनरागमन नहीं होता है। इसका कारण यह है कि संसारभावका अन्तरंग कारण तो आत्माकी मलीमसता है और वहिरंग कारण कर्मोंका उदय है। सिद्ध भगवान्के आत्मामें न तो मलीमसता है और न कर्मोंका सत्त्व है। उदय कहाँसे आवे? अतः एक वार शुद्ध हो जानेपर आत्मा कभी भी अशुद्ध नहीं होता। काल पाकर स्वयं अशुद्ध हो जाय, इस सन्देहका भी अवकाश नहीं है, क्योंकि काल तो परिणमनमात्रमें

होनेपर उसका फिर संसार या अवतार नहीं होता इत्यादि अनेकविध मान्यताओंका इसमें संग्रह है। यदि विवक्षानुसार इनका मर्म पानेका यत्न करें तो ये सब अविरुद्ध बातें हैं जो कि उस दृष्टिमें हो सकती हैं। इस मतमें शास्त्रोंमें उपयोगी समझकर ऋषियोंने अनेक सिद्धान्तोंका प्रणयन किया है। इस तरह शास्त्र अनेक प्रकारके हैं, पुराण भी अनेक तरहके हैं, देव भी अनेक प्रकारसे माने गये हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, षडानन, दुर्गा, भवानी, शीतला, लक्ष्मी, शाकुम्भरी, अन्नपूर्णा, सरस्वती, गनगोर आदि अनेक देव माने गये हैं, जिनकी उपासना भिन्न-भिन्न उद्देश्यको लेकर होती है। गुरु भी अनेक प्रकारके भेषमें माने गये हैं। केश रखे, भस्म लगे, छाल पहिने, चर्म पहिने, टाट पहिने, जूता पहिने, खड़ाऊँ पहिने, शस्त्र लिये, वाहन लिये, धूनी रमाये, रंगीन वस्त्र पहिने आदि अनेक वेषोंमें संन्यासी, साधु, गुरु माने गये हैं, किन्तु सदाचारकी उपेक्षा नहीं की गई है। इस मतमें जहाँ जिससे कोई शिक्षा, लोककार्य उपकार प्राप्त हुआ उसमें देव अथवा गुरुकी स्थापना की गई है। हिन्दू सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय हैं। अतः विविध मन्तव्य व विविध क्रिया व्यवहारोंका होना प्राकृतिक बात है। इस सम्बन्धमें सभी एक मत हैं कि काम, क्रोध, मान, माया, लोभ व मोह इन छह प्रकारके शत्रुवोंका विध्वंस होनेपर ही कल्याण होगा।

हिन्दू शब्दका अर्थ है—हि = हिंसासे, दू = दूर अर्थात् जो हिंसासे दूर रहे वह हिन्दू। इस अर्थसे जीवदयामें जो विश्वास व आचरण करते हैं, वे सब हिन्दू हैं, किन्तु यह अब रूढ़ शब्द रह गया है। इस दर्शनमें मुख्यता राम-अवतारकी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की बाल्यावस्थासे लेकर उनके उस जीवन तकके सब चरित्रोंकी यहाँ उपासना है तथा उनकी पत्नी श्री सीताजी की भी उसी आदरके साथ उपासना है। जैन-दर्शनमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को बलभद्र व पद्म कहा है और गार्हस्थ्य चरित्रके बादका चरित्र बताया है कि वे सर्व आरम्भ परिग्रहसे विरत होकर परमब्रह्मकी उपासनामें लग गये थे। इसके परिणामस्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मांगी तुङ्गी पर्वतसे परमोत्कृष्ट समाधिरत होकर मोक्ष प्राप्त किया। श्री सीता जी की सतियोंमें प्रधानता जैन-दर्शनने बताकर यह कहा है कि श्री सीताजीने अग्निकुण्ड परीक्षाके बाद आर्यांव्रत धारण करके तपस्या करके १६ वें स्वर्गमें प्रतीन्द्र पद पाया है।

हिन्दू जातिके सम्प्रदाय-प्रायः वैदिक मतके अनुयायी हैं, किन्तु सुधार, अध्यात्मवाद, प्रयोगानुभव आदि आशयोंके कारण विभिन्न सम्प्रदाय उनमें हुए हैं। जैसे रामभक्त, कृष्ण-भक्त, शैव, दुर्गाभक्त, शाक्त, सनातनी, आर्य आदि। इस धर्ममें भगवद् गीता एक प्रधान ग्रन्थ है। निष्काम कर्मयोग, प्रकृतिपुरुषविवेक, उत्पादव्ययध्रौव्य, सत्त्व रज तम, ईश्वर-कर्तृत्व, अकर्तृत्व आदि अनेक सिद्धान्तोंका इसमें संचय है तथा किसी स्थलमें यह भी

निश्चय धर्म

"धम्मो वत्थुसहावो" धर्म वस्तुका स्वभाव है अर्थात् जो वस्तुका स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। स्वभाव अनादि, अनन्त होता है। इस कारण स्वभाव व्यक्ति (पर्याय) रूपमें नहीं देखा जा सकता है, किन्तु स्वभाव अनादि-अनन्त शक्तिस्वरूपमें देखा जाता है। इस तरह आत्माका धर्म आत्माका अनादि अनन्त चैतन्यस्वभाव ही ठहरा। यह धर्म किये जानेकी चीज नहीं है। वह तो अनाद्यनन्त आत्मामें नित्य प्रकाशमान है ही। जो जीव पाप-भावरूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है तथा जो जीव पुण्यभाव रूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है तथा जो जीव इस धर्मकी दृष्टि रखते हैं व इसका चिर उपयोगरूप आलम्बन करते हैं उनमें भी यह धर्म है। अतः इस धर्मकी व्यावहारिकता तो नहीं बनती है, फिर धर्मका पालन ही क्या कहलाये ? इसका समाधान यह है कि इस वस्तुस्वभावरूप धर्मका श्रद्धान व उपयोगका रहना ही धर्मका पालन है। ऐसे धर्मपालनको ही निश्चयधर्मका होना कहा जाता है। अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध चैतन्यस्वभावका उपयोग होना सो निश्चयधर्म है और इसी कारण इस आत्मस्वभावपर दृष्टि न रहकर किन्हीं भी परपदार्थोंका उपयोग होना अथवा परपदार्थके विषयसे उत्पन्न हुए इष्ट अनिष्ट भावोंको अपनाना आदि सब अधर्म हो जाता है। निश्चयतः किसी भी प्रकारका राग व रागवश ही किया जानेवाला किसी भी ज्ञेयका उपयोग धर्म नहीं है। अद्वैतोपासनासे च्युत होकर बाह्यमें परमात्माकी भक्ति अथवा परमात्माका उपयोग भी धर्म नहीं है, क्योंकि वह परमात्मा भी परपदार्थ है। यह निश्चय धर्मकी भी व्याख्या की जा रही है, निश्चयके पूर्ववर्ती अथवा निश्चयके साधककी कथा नहीं है, व्यवहारधर्ममें इसका प्रतिपादन होगा। अतः इस प्रकरणमें प्रत्येक बातको निश्चयदृष्टि रखकर ही देखना है। परमनिश्चयधर्म तो आत्माका अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभाव है और निश्चयधर्म उस परम-स्वभावका श्रद्धान व उपयोग है।

परमस्वभावका निर्णय प्रतिषेधगम्य अथवा अनुभवगम्य है। स्वभावकी समस्त परिणतियोंका भी निषेध करके स्वभाव जाना जाता है। शारीरिक कोई भी पर्याय जीवका स्वभाव नहीं; राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह जीवके स्वभाव नहीं; कल्पना, वितर्क, विचार जीवके स्वभाव नहीं; ध्यान जीवका स्वभाव नहीं; आंशिक प्रकट ज्ञान जीव का स्वभाव नहीं; पूर्णरूपसे प्रकट ज्ञानादि भी जीवका स्वभाव नहीं। इसका कारण यह कि इन उक्त बातोंमें कितने ही भाव तो परद्रव्यरूप हैं, कितने ही भाव औपाधिक भाव हैं, कितने ही भाव क्षायोपशमिक हैं, कितने ही भाव (केवलज्ञानादि) सादि हैं। स्वभाव अनादि अनन्त, निरुपाधि एवं अहेतुक होता है। जो इन सब पर्यायोंका आधारभूत स्रोत है वह स्वभाव है, किन्तु यह स्वभाव यदि किसी विधि द्वारा कहा जाता है तो वह विधि या तो

जन खुद निर्णय कर सकते हैं। इससे एक बातकी शिक्षा मिलती है कि प्राणी यह सोच सकता है कि मैं सुख, दुःख, राग, द्वेष आदिका कर्ता नहीं हूं, स्वामी नहीं हूं और इसकी भावनाके परिणामस्वरूप प्राणी अपनेको सुख दुःखका, राग द्वेषादिका अकर्ता मानकर उनसे लगाव हटा सकता है, किन्तु ध्रुव स्वरूपका परिचय पाये बिना उपयोगकी स्थिरता नहीं हो सकती। सो संभव है कि कर्तृत्वविकल्पका परिहार कर देनेपर यदि अन्य विकल्पों को अवकाश न मिले तो यथार्थस्वरूपका परिचय हो ले। ऐसा होनेके लिये न तो कर्मके कर्तापनका विकल्प होना चाहिये, न खुदके कर्तापनका विकल्प होना चाहिये और न अन्यके कर्तापनका विकल्प होना चाहिये। इस सहज ज्योतिके अनुभवके लिये तो पूर्णतया अकर्तृत्व का प्रत्यय रहना चाहिये, क्योंकि निर्विकल्पक समाधि या अनुभूतिकी सिद्धि विकल्पके अभाव से ही है।

इसी दर्शनमें न्याय कसौटीके सिद्धान्तपर यह भी माना गया है कि आत्मा अनादि सिद्ध है और आत्मा व शरीरका सम्बन्ध भी अनादि सिद्ध है। यह आत्मा एक शरीरको छोड़ता है और अन्य शरीरको ग्रहण करता है, यही इसका जन्म मरण कहा जाता है। आत्मा शरीर मन व इन्द्रियोंसे भिन्न है, इसको युक्तिबलसे भी सिद्ध किया गया है—(१) एक ही अर्थका ग्रहण दर्शन व स्पर्शन आदिसे होता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता आत्मा एक स्वतन्त्र है। यदि इन्द्रियां ही द्रष्टा ज्ञाता होतीं तो एक इन्द्रियसे ग्रहण किये गये अर्थका दूसरे इन्द्रियसे ग्रहण नहीं होता, क्योंकि अन्य पुरुषके द्वारा दृष्ट अर्थका और अन्य पुरुष स्मरण नहीं कर सकता। इन्द्रियोंके द्वारा प्रतिनियत अर्थके अवगमकी व्यवस्था भी आत्माकी सिद्धि ही करती है कि कोई स्वतन्त्र गृहीता है जो इन्द्रियोंके द्वारा नियत नियत अर्थको ग्रहण करता है। इस प्रकार यह आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न ही है। (२) आत्मा देहसे भी भिन्न है, क्योंकि मृत देहको जलानेसे उस आत्माके वधका पाप नहीं लगता। यहां प्रश्न यह हो सकता है कि आत्मा तो नित्य माना गया है, फिर जीवित शरीरके जलानेमें भी पाप नहीं लगना चाहिये, इसका समाधान है कि आत्माके वधका नाम हिंसा नहीं, किन्तु कार्याश्रय शरीरके उपघातसे एवं उपभोगके कारणभूत इन्द्रियोंके उपघातसे हिंसा मानी गई है अर्थात् शरीर व इन्द्रियके प्रबन्धके उच्छेदका नाम हिंसा है। (३) आत्मा मनसे भिन्न है, क्योंकि आत्मा मन्ता (ज्ञाता) है और मन मति (जानने) का साधन है। यदि मनको ही आत्मा कहो तो मतिसाधन कुछ और मानना पड़ेगा। इस तरह मन्ता और मतिसाधन दो तो मानना ही पड़ेंगे। अब नाम जो चाहे रख लो; केवल संज्ञाभेदकी ही बात रही।

उक्त १६ पदार्थोंका सामान्य निर्देशन इस प्रकार है—(१) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द—ये चार प्रमाण हैं। (२) आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष,